॥ ओ३म् तत्सत् ॥

सहज मार्ग

SAHAJ MARGA

वर्ष ३ — अङ्क २

Year 3 — Number 2

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर, उ० प्र०
(भारतवर्ष)

Shri Ram Chandra Mission
Shahjahanpur, U. P. (India)

सम्पादक मंडल

काशीराम अग्रवाल, शाहजहाँपुर

सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)

वार्षिक मूल्य ३) — एक अंक का १)

प्रकाशक—श्री रामचन्द्र मिशन पब्लिकेशन डिपार्टमेंट, शाहजहांपुर
उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

विषय सूचीः—

विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
१—प्रार्थना		१
२—सम्पादकीय — अनासक्ति		२
३—कर्म	समर्थ गुरू महात्मा रामचन्द्र जी फतेहगढ़	८
४—ग़रीबी	श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन	१३
५—भजन	सूरदास	१६
६—अनन्त यात्रा		१७
७—साधन पथ	कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी	२३
८—ग़ज़ल	परिव्राजक विष्णु जी विष्णु स्वामी, 'सदा'	३१
९—प्रार्थना	महानिर्वाण तन्त्र से उद्धृत	३२
10–The Efficacious way	Shri Ram Chandra Ji President S. R. C. M.	33
11–The knot of the Heart	Shri Raghavendra Rao	36
12–Some Common Errors in Meditation	Shri Ishwar Sahai	42
13–Thoughts on worship	Shri Banagovinda Parampanthi	48
14–Men with a Mission	Shri Suresh Chandra	59
15–Experiences of an Abhaysi	An Abhyasi	62
16–To the Awakened India	Swami Vivekanand	64

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

सहज मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

(उठो ! जागो ! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो।)

वर्ष ३ Year 3 | आषाढ़, शाकाब्द १८८१, सं० २०१६ विक्रमी | June–July 1959 | अङ्क २ Number

★ प्रार्थना ★

हे नाथ, तू ही मनुष्य–जीवन का ध्येय है।

हमारी इच्छाएँ हमारी उन्नति में बाधक हैं।

तू ही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है।

बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है।

[श्री राम चन्द्र मिशन की दैनिक प्रार्थना]

सम्पादकीयः—

अनासक्ति

सस्कार–निर्माण का मूल कारण 'आसक्ति' है । अतः संस्कार-शून्यता का साधन 'अनासक्ति' या 'वैराग्य' होना चाहिए । 'अनासक्ति' के उपाय की खोज करने के पूर्व 'आसक्ति' की प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आवश्यक है ।

'आसक्ति' अथवा 'तृष्णा' का आधार व्यक्तित्व का आसक्ति के विषय के साथ तादात्म्य है; जिस के परिणामस्वरूप उस विषय के प्रति व्यवहार के सम्बन्ध में व्यक्ति विवश हो जाता है । उदाहरणार्थ जो व्यक्ति किसी विशेष प्रकार के स्वादिष्ट भोजन के प्रति आसक्त हो जाता है, वह उस के अभाव में अपना अस्तित्व ही व्यर्थ समझने लगता है । कारण सुस्पष्ट ही है कि उस ने अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व का तादात्म्य स्वादेन्द्रिय के साथ कर लिया है । परिणामतः उस विशेष स्वाद के भोजन के प्रति व्यवहार के सम्बन्ध में वह व्यक्ति स्वतन्त्र न रह कर विवश हो जाता है । किन्तु यदि उस स्वादिष्ट भोजन के प्रति आसक्ति नहीं पैदा होती, तो अनेक बार उसे खाने पर भी उस के प्रति व्यवहार के सम्बन्ध में व्यक्ति स्वतन्त्र रहता है । इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य को भारतीय दर्शन की पारिभाषिक शब्दावलि में इस सिद्धान्त के रूप में व्यक्त किया गया है कि "सक्त कर्म ही सस्कार के रूप में बन्धन उत्पन्न करता है । अनासक्त कर्म संस्कार का निर्माण नहीं करता है ।"

उपर्युक्त सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक सत्य की दृष्टि से तनिक भी रहस्यात्मक नहीं । पाश्चात्य नीतिशास्त्र में मार्टिन्यू *(Martineau)* ने कर्म के दो प्रकार के प्रेरक बताये हैं: (१) मौलिक *(Primary)*

अर्थात् सामान्य रूप से मानव के लिए स्वाभाविक; और (२) गौण *(Secondary)* अर्थात् मौलिक प्रेरणाओं की क्रियाशीलता द्वारा उत्पन्न अनुभव के प्रति 'मोह' के परिणाम स्वरूप उत्पन्न प्रेरक । बौद्ध दर्शन में भी शारीरिक अस्तित्व को 'वेदना' *(Experience)* का कारण बताया गया है; और इसी 'वेदना' के प्रति उत्पन्न तृष्णा को 'संस्कार'–निर्माण का मूल कारण कहा गया है । सुखात्मक और दुःखात्मक अनुभव के प्रति राग-द्वेषात्मक आसक्ति (मोह अथवा तृष्णा) ही चित्त पर ऐसा प्रभाव उत्पन्न करती है, जो भावी कर्म-विषयक बन्धन की नींव बनता है । यह किसी भी व्यक्ति के साधारण अनुभव का विषय है कि जब हम परिस्थितिवश कुछ करते हैं; किन्तु उस के प्रति हमारे मन का लगाव नहीं होता, तो उस कर्म का हमारे ऊपर कोई ऐसा स्थायी प्रभाव शेष नहीं रहता कि आगे चल कर वह काम करने या न करने की विवशता पैदा हो जाये । धूम्रपान से लेकर गहन चिन्तन तक किसी भी क्रिया पर यह सिद्धान्त लागू होता है । आधुनिक मनोविश्लेषण सिद्धान्त में समस्त असाधारण और साधारण विवशताएँ प्रारम्भिक राग-द्वेषात्मक आसक्ति के परिणाम–स्वरूप उत्पन्न माना गई हैं ।

राग-द्वेषात्मक आसक्ति का मूल कारण भारतीय दर्शन की पारिभाषिक शब्दावलि में 'अविद्या' है । 'अविद्या' का परम्परागत अर्थ 'अयथार्थ को यथार्थ समझने की प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाली मूल सवित्ति *(Original Consciousness)* है । शास्त्र का पाण्डित्यपूर्ण विवेचना अलग छोड़ कर साधारण ज्ञान के स्तर पर भी यह कोई रहस्य की बात नहीं कि 'आसक्ति' का कारण 'व्यापक दृष्टि का अभाव' ही होता है । जब हम किसी उद्देश्य को सामने रख कर कुछ करते हैं, तो अपने कर्म के परिणाम को महत्वपूर्ण समझते हैं, और उस की प्राप्ति होने पर प्रसन्नता, तथा अप्राप्ति होने पर विषाद का अनुभव करते हैं । किन्तु विश्व की व्यापक व्यवस्था के संदर्भ में किसी भी कर्म के परिणाम का केवल आपेक्षिक महत्व होता है । बहुधा प्रारम्भ में अत्यन्त विषाद का अनुभव प्रदान करने वाला परिणाम भी कुछ समय बाद हितकर सिद्ध होता है, और

तब प्रारम्भिक विषाद अथवा क्रोध पर हम पछताते हैं। यदि घटनाओं के प्रति व्यापकतम दृष्टि रखने का स्वभाव बन जाये तो राग-द्वेषात्मक आसक्ति से सहज ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

ऐसा स्वभाव विकसित करने का एक उपाय भारतीय दर्शन में निरन्तर मनन और चिन्तन द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेना, और इस प्रकार अनुचित तादात्म्य का परिहार कर देना बताया गया है। वास्तव में अनुचित तादात्म्य ही आसक्ति का मूल है। स्वदेन्द्रिय के साथ अपना तादात्म्य कर लेने वाला व्यक्ति ही विशेष प्रकार का भोजन न मिलने पर अपने को विनष्ट मान कर क्षुब्ध होता है और राग-द्वेषात्मक उत्तेजना का शिकार बनता है; और इस प्रकार अपने लिए बन्धनों का ताना बाना बुनता जाता है। अपने स्वरूप के विषय में जिस ने जितने ही व्यापक दृष्टिकोण को अपनाया है, वह अनुचित तादात्म्य से उतना ही बचता है, और राग-द्वेषात्मक आसक्ति द्वारा उत्पन्न कर्मों के बन्धन में नहीं फँसता। शुद्ध ज्ञान प्राप्त होने पर स्वभावतः ही अनासक्त कर्म होने लगते हैं, और व्यक्ति उत्तरोत्तर चरम लक्ष्य की दिशा में बढ़ता जाता है।

शुद्ध ज्ञान अर्थात् सम्यक् या व्यापक दृष्टि के मार्ग से चल कर चरम लक्ष्य तक पहुँचने में एक कठिनाई यह आती है कि जब तक शुद्ध ज्ञान उत्पन्न हो कर पूर्णतः स्थिर रूप से स्थित नहीं हो जाता, तब तक सक्त कर्म होते रहते हैं, और संस्कारों का निर्माण होता रहता है। इस के अतिरिक्त ज्ञान यदि केवल सूचना के रूप में रहता है और तदनुकूल व्यवहार का विकास नहीं होता तो ऐसा ज्ञान जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक सिद्ध नहीं होता। प्राचीन यूनानी नीति शास्त्र में सुकरात के 'नैतिक श्रेष्ठता *[virtue]* का मूल तत्त्व ज्ञान है', इस सिद्धांत के विरुद्ध अरस्तू ने अभ्यास *[Habit]* को नैतिक श्रेष्ठता के मूल तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है। अतः इन कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुये भारतीय दर्शन में लक्ष्य की प्राप्ति का दूसरा उपाय 'निष्काम कर्म' का सतत अभ्यास बताया गया है। परिणाम की चिन्ता छोड़कर केवल कर्त्तव्य

कर्म का अभ्यास करते रहने से धीरे धीरे सम्यक् दृष्टि या शुद्ध ज्ञान का भी स्वतः ही विकास होता जाता है, जिस के साथ ही साथ अनासक्त रह कर कर्तव्य कर्म का अभ्यास भी स्वाभाविक रूप ग्रहण करता जाता है; प्रारम्भ में कर्तव्य-पालन के साथ जो कष्ट की वेदना रहती है, वह धीरे धीरे दूर होती जाती है। दूसरे शब्दों में अनासक्त कर्म अभ्यास का विषय न रह कर अभ्यासी का स्वभाव या रहनी बन जाता है। भारतीय संस्कृतिके इतिहास में कभी कभी --विशेषतः आधुनिक युग में गांधी जी और तिलक आदि द्वारा गीता की व्याख्या में—इस कर्म मार्ग की श्रेष्ठता पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया गया है। (आधुनिक युग में आध्यात्मिक लक्ष्य-मोक्ष-की अपेक्षा सामाजिक नैतिकता के लक्ष्य-कर्तव्य-पर अधिक बल दिया गया है। ऐसा दृष्टिकोण युग की माँग के अनुकूल होने पर भी भारतीय दर्शन के साधना पक्ष को परिपूर्ण रूप में प्रस्तुत नहीं कर पाता।)

कर्म मार्ग में भी एक कठिनाई आती है। वास्तविक उद्देश्य तो आसक्ति का परित्याग है। शुद्ध ज्ञान तो आसक्ति को नष्ट करने का साधन बन जाता है; किन्तु अनासक्त कर्म मार्ग को अपनाने पर यह प्रश्न ज्यों का त्यों ही रह जाता है कि 'अनासक्ति कैसे पैदा हो'! कर्म करते रह कर उन के फल के प्रति आसक्ति न पैदा होने देने का निषेधात्मक उपदेश व्यावहारिक स्तर पर थोथा प्रवचन, बल्कि निरर्थक प्रलाप मात्र ही सिद्ध होता है—यह किसी भी सच्ची लगन के साधक के अनुभव की बात है। इतना ही नहीं किसी भावात्मक उद्देश्य के अभाव में कर्म-फल के प्रति उदासीनता का भाव बनाने का प्रयास मानसिक उत्तेजना उत्पन्न करता है, जो स्वयं संस्कार--निर्माण का आधार बन जाता है, और साधक को वास्तविक लक्ष्य के ठीक विपरीत दिशा में ले जाता है। इसी प्रकार का निषेधात्मक आदर्श अनेक हास्यास्पद विकृत अभ्यासों को जन्म देता है, उदाहरणार्थ इन्द्रियासक्ति को जीतने के लिये सभी प्रकार के स्वाद वाले व्यञ्जनों को एक साथ मिलाकर खाना, अखाद्य वस्तुओं का खाद्य के रूप में सेवन, स्त्री--सहवास करते हुए चित्त को स्थिर

करने का अभ्यास इत्यादि ।

अत: भारतीय दर्शन में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न तीसरी विधि का निरूपण किया गया है, जिसे पारिभाषिक शब्दों में 'भक्ति–मार्ग' कहा जाता है । आसक्ति का परित्याग करने की सुगम और स्वाभाविक विधि यही है, कि कोई एक आसक्ति पैदा कर ली जाये । किसी एक के प्रति लगाव पैदा होते ही मन स्वय सब ओर से खिंच आता है । कबीर के शब्दों में—

मन पंछी तब लौं उड़ै विषय–वासना माँहि ।
प्रेम–बाज की झपट में, जब लगि आवत नाहिं ॥

इस विधि के अन्तर्गत 'ज्ञान मार्ग और 'कर्म मार्ग' की जिन कठिनाइयों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनका स्वत: ही परिहार हो जाता है । अनासक्ति उत्पन्न करने के लिए स्वाभाविक प्रवृत्तियों का कठोरता पूर्वक दमन नहीं करना पड़ता; जिस एक के प्रति आसक्ति उत्पन्न हो जाती है, उस के खयाल में डूबे रहने पर परिस्थितियों वश जो प्राकृतिक कर्म होते रहते हैं, उन का बन्धन उत्पन्न करने वाला कोई स्थायी प्रभाव शेष नहीं रहता । कर्मों के प्रति दक्षता और कुशलता में भी कोई कमी नहीं आती, क्यों कि वह 'प्रियतम' के प्रति समर्पित होते हैं, और यह किसी भी साधारण प्रेमी का अनुभव है कि प्रेम-पात्र के लिए जो कम किये जाते हैं, वह अधिक दक्षता पूर्वक सम्पन्न होते हैं, यद्यपि उनमे ठोस अर्थ में स्वार्थ की सिद्धि नहीं होती । इस के अतिरिक्त प्रेम का स्वरूप ही आत्म—विस्मृति मूलक है, और यह भी किसी भी साधारण कर्मठ व्यक्ति का अनुभव है कि आत्म-विस्मृति की अवस्था में किये गये कर्म अधिक सुचारु रूप से सम्पन्न होते हैं । भक्ति मार्ग से चलने पर भी शुद्ध ज्ञान या सम्यक् दृष्टि धीरे धीरे विकसित होती है, किन्तु इस ज्ञान में शुष्कता और घृणा को जन्म देने वाले विकृत वैराग्य का पुट नहीं होता । श्री मद्भागवत में उद्धव के आख्यान द्वारा यही बात स्पष्ट की गई है । वेदान्त के आचार्यों ने थोड़े बहुत सैद्धान्तिक अन्तर के साथ अपने अपने विशिष्ट ढङ्ग से इसी

भक्ति मार्ग की श्रेष्ठता का निरूपण किया है, जिस के परिणाम स्वरूप मध्य--युगीन सन्त–साधना का विकास हुआ । सहज--मार्ग साधना पद्धति में इसी भावात्मक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न विधि पर बल दिया गया है ।

'भक्ति' शब्द धार्मिक रहस्यवाद के संदर्भ (context) में अत्यंत विकृत अर्थ अर्जन कर चुका है । धर्म के इतिहास में इस शब्द की आड़ में अनेक सामाजिक कुरीतियों और अन्ध विश्वासों को प्रश्रय प्राप्त हुआ है । अत: वैज्ञानिक दृष्टि से चरम लक्ष्य के प्राप्ति की यह सर्व श्रेष्ठ विधि जुगुप्सा और उपेक्षा का विषय रही है । वास्तव में उस के महत्व का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन अपेक्षित है । सहज--मार्ग साधना पद्धति में 'भक्ति' को जिस रूप में महत्व दिया गया है, उसके विषय में निम्नांकित दो बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं:—

(१) 'भक्ति' स्वयं साध्य नहीं, किन्तु चरम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन मात्र है । यह बात अलग है कि जिस साधन द्वारा हम लक्ष्य तक पहुँचते हैं, लक्ष्य पर पहुँच जाने के बाद भी उस को न छोड़ें; किन्तु साधन से इस प्रकार चिपक जाना कि साध्य से ही नाता टूट जाये, नितान्त अनुचित है ।

(२) 'भक्ति' को 'संस्कार-शून्यता' के साधन 'अनासक्ति' की संप्राप्ति के निमित्त श्रेष्ठतम विधि के रूप में अपनाने पर यह प्रश्न स्वाभाविक ही उत्पन्न होता है, कि 'भक्ति' का विषय (object)कौन होना चाहिये ! इसी प्रश्न पर हम इस पत्रिका के अगले अङ्क में विचार करेंगे ।

—सम्पादक

कर्म*

(समर्थ गुरू महात्मा रामचन्द्र जी महाराज फतेहगढ़)

कर्म की जरूरत क्या है ? कर्म जिन्दगी के ज़ाहिर होने का कानून है । बिना कर्म के अस्तित्व की कल्पना और सम्भावना नहीं होती । इस लिए हर शरीरधारी अस्तित्व को कर्म करना पड़ता है, पड़ा है और पड़ेगा । जिन्दगी बिना ज़ाहिर (व्यक्त) हुए नहीं रह सकती है । यह हर अस्तित्व का प्राकृतिक गुण है । कोई जिन्दगी अपने को व्यक्त करने से रुक नहीं सकती है । इसका प्राकृतिक व्यवहार प्राकृतिक नियम के अनुसार है । लेकिन कर्म सदा नहीं रहता । हरकत[1] के बाद सुकून[2] की हालत आती है । कर्म शाश्वत नहीं है, लेकिन जिस को शाँति और आनन्द कहा जाता है, क्या वह भी कर्म नहीं है ! तीनों प्रकार के शरीर मिल जुल कर कर्म में लगे रहते हैं । स्थूल देह में शारीरिक हरकत है, सूक्ष्म देह में विचार-सम्बन्धी हरकत है और कारण शरीर में शान्ति या ठहराव-सम्बन्धी हरकत है जिसको आनन्द कहा जाता है ।

शरीर (जिस्म), हृदय (दिल), और आत्मा (रूह) तीनों ही देह या शरीर हैं । स्थूल शरीर कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की हरकत के लिए मख़सूस[3] है; हृदय विचार और चिन्तन की ख़याली हरकत अपने अन्दर रखता है, जिसमें सूक्ष्म (लतीफ) कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ शामिल रहती हैं और इसमें हरकत व सुकून दोनों ही हैं, और आत्मा का कर्म (फेल) सुकून है, जिसके अन्दर तीनों प्रकार की हरकतें बीज रूप से रहती हैं । शरीर और हृदय की ही भाँति आत्मा भी कर्म से ख़ाली नहीं है । लेकिन यहाँ इस लेख में इस

*पिछले अङ्कों में प्रकाशित 'वेद' शीर्षक लेख के आगे का लेख ।

१-गति *(Movement)* २-ठहराव *(Rest)* ३-विशिष्ट *(Specialized or characteristic)*

समय कर्म का अर्थ केवल वह बाह्य व्यक्त और स्थूल मांस और त्वचा वाले शरीर का कर्म है, जिसको वेद-आरम्भ अर्थात् वेद का प्रारम्भिक स्वरूप कहा जाता है । इसी को अधिकतर कर्म कहा जाता है । देह शब्द संस्कृत धातु 'दिह्' से निकला है, जिसका अर्थ इकट्ठा करना जमा करना या समेटना है । यह शरीर चूँकि तत्वों के मेल से बना है और उनके एक दूसरे के साथ इकट्ठा होने से उसकी तरकीब[4] व तरतीब[5] हुई है, और साथ ही यह इकट्ठा करने का आकांक्षी रहता है, अतः इसी विशेषता के कारण ऋषियों ने इसका नाम देह रक्खा है । प्राकृतिक व्यवस्था में सिमटाव के साथ बिखराव, जमा[6] के साथ तफरीक[7] और ज़रब[8] के साथ तकसीम[9] के सिद्धान्त भी काम कर रहे हैं, क्यों कि यह संसार (जगत) द्वन्द्व का स्थान है । यह परस्पर विरोधी तत्वों का संग्रह है । देह या शरीर भी इसी कारण दाखिल-ख़ारिज[10] अर्थात् ग्रहण और त्याग के परस्पर विरोधी दोनों प्रकार के कर्म करता है । यह भी एक प्रकार का प्राकृतिक नियम है ।

(१) स्थूल देह (जिस्म कसीफ़) स्थूल तत्वों के मेल से बना है
(२) सूक्ष्म देह (दिल) सूक्ष्म तत्वों के मेल से बना है :
(३) कारण देह (रूह) कारण तत्वों के मेल से बना है ।

—स्थूल तत्व ये हैं—(क) आकाश (ख) वायु (ग) अग्नि (घ) जल (ङ) पृथ्वी—इनके अणुओं से स्थूल देह व्यवस्थित और संघटित हुई है ।

—सूक्ष्म तत्व ये हैं—(क) शब्द (ख) स्पर्श (ग) रूप (घ) रस (ङ) गन्ध—इनके अणुओं से सूक्ष्म शरीर बना है ।

४- संघटन *(organesation)*
५- व्यवस्थापक *(Systematisation)*
६- धन *(Addition)*
७- ऋण *(Subtractiou)*
८- गुणा *(Multiplication)*
९- भाग *(Division)*
१०- *Taking in and expelling out*

—कारण तत्व—ऊपर के पाँच तत्वों के जो बीज रूप कारण मात्र परमाणु हैं उनसे कारण देह का निर्माण हुआ है। इन तीनों शरीरों का सघटन और व्यवस्था अणुओं के मेल से ही होता है, और यही कारण है कि तीनों के गुण, कर्म और स्वभाव उन अणुओं के अनुसार होते हैं।

यदि किसी ने आत्मा अर्थात् रूह को मिश्रित[11] (मुरक्कब) नहीं माना, तो क्या उसके न जानने से असलियत में कोई फ़र्क़ आता है। जिसको जहाँ तक समझ है उसने वहाँ तक समझा। इसके समझने में वेदान्ती, साँख्यवादी, योगी, बल्कि ऋषियों और मुनियों ने भी धोका खाया है। तीन देहों को तो शास्त्र तक ने माना है, किन्तु इसका खयाल तक न हुआ कि यह कारण देह आत्मा अर्थात् रूह ही है। आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति (*etymology*) पर विचार करना चाहिए।

आत्मा सस्कृत भाषा के 'आत्' और 'मनन' से मिल कर बना है। 'आत्' का अर्थ गति अर्थात् हरकत और 'मनन' का अर्थ सोचना है। जिसमें हरकत और विचार व चिन्तन हो वह आत्मा है। यह आत्मा ही कारण शरीर है, जो बीज रूप है, और स्वय मिश्रित अर्थात् मुरक्कब है। इसी की अभिव्यक्ति (*expression*) जिस्म (स्थूल शरीर) और दिल (सूक्ष्म शरीर) के क्षेत्रों में होती है। यह उठ कर जब जागृत् के क्षेत्र में आता है तो ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में उसकी धार की हरकत से हरकत आती है; और जब यह दिल के स्थान (स्वप्न-अवस्था) में आता है तो विचार और चिन्तन में रहता है; और जब अपनी धार को सुषुप्ति की हालत में समेट लेता है तो अपने रूप में मग्न हो कर अपना सुख भोगता है। और जब जिस वस्तु में हरकत, चिन्तन और मग्नता की विभिन्न अवस्थाएँ हों तो फिर वह अमिश्रित[12] (सुफ़रद) किस तरह हो सकती है, उसको तो मिश्रित अर्थात् मुरक्कब ही होना चाहिए।

११- *Compound, Divisilble*

१२—*Simple, Indivisible*

कर्म केवल स्थूल देह का धर्म है। जिस तरह देह की बनावट प्राकृतिक है, और उसी के अनुसार शुभ और अशुभ फूल का नियम भी प्राकृतिक है। हर शरीर धारी जीव है। जीव कहते हैं जीवित अस्तित्व को जो गतिशील है, और उसकी हरकत में प्रगति और विचार और चिन्तन का सिद्धान्त काम करता है।

जीव आत्मा है। क्योंकि जिसमें 'आत्'=हरकत अर्थात् गति और 'मनन'=सोच समझ अर्थात् विचार और चिन्तन हो वह आत्मा है। यह आत्मा बृह्म है। बृह्म बढ़ने और सोचने वाली सृष्टि को कहते हैं। यह बृह्म संस्कृत धातु 'बृह्म' अर्थात् बढ़ना और 'मनन' अर्थात् सोचना से निकला है। जो हरकत करे और सोचे वह आत्मा है; और जो बढ़े और सोचें वह बृह्म है। इस दृष्टि से जहाँ जीव है सब ही बृह्म है। हरकत और प्रगति लगभग समानार्थक हैं। यह माना कि हरकत में बढ़ना और घटना दोनों ही हैं, लेकिन यह दोनों ही प्रगति के सिद्धान्त कहे जाते हैं। बढ़ना अग्रगामी (Progressive) प्रगति है और घटना प्रतिगामी(Regressive) प्रगति है। दोनों ही हालतों में बढ़ने का अभिप्राय सम्मिलित है। एक तो ऊपर की तरफ़ उछालती या आगे की तरफ ढकेलती है और दूसरी नीचे गिराती या पीछे की ओर ले जाती है; लेकिन इस गिरने या घटने अर्थात् रेंगने या सिकुड़ने में बढ़ने का ही भाव रहता है, घटने के भाव का पता तक नहीं है। जिस तरह चलती हुई गाड़ी के पहिये आगे-पीछे की ओर हरकत करते हुये बढ़ते ही जाते हैं, वैसे ही जीव, आत्मा या बृह्म की दशा है। हरकत या बढ़ना स्थूल देह का गुण है और सोचना समझना सूक्ष्म देह का गुण है। यह दोनों मिले जुले काम करते रहते हैं। अतः यदि उनका रुख (direction) प्राकृतिक मिलान और गुण के अनुसार प्रगति की ओर है तो काम बराबर होता रहता है। किन्तु यदि दिल अर्थात् सूक्ष्म शरीर में वैयक्तिक एकत्व (personal individuality) का खयाल आ गया तो फिर उस के भीतर के अन्दर विचार रूप में 'नेकनीयती' और 'बदनियती' (right and wrong intention) का खयाल पैदा हो जाता है। इस नेकनीयती या बदनीयती के अन्दर स्वतः ही अच्छे और बुरे बदले

का ख़याल आ जाता है । नीयत (intention) वाला व्यक्ति जानता रहता है कि नेकी अच्छी और बदी बुरी है और जहां यह ख्याल होता है, वहाँ शुभाशुभ फल का नियम भी लागू हो जाता है; और उसके अन्तर्गत जीव को बुरा और भला बदला अपने आप मिलता है । यही शुभाशुभ फल है । यह वैसा ही प्राकृतिक है जैसा कि बढ़ना और सोचना । जिस वैयक्तिक अस्तित्व अथवा व्यक्तित्व में नेकी और बदी का ख्याल (भ्रम) नहीं है या जिसको नेकनीयती या बदनीयती का ख्याल भी नहीं है, उसके लिये शुभाशुभ परिणाम भी नहीं है । वह केवल बढ़ता, सोचता और चलता है जैसी कि मनुष्य के कम उम्र के बच्चे की हालत होती है ।

प्रत्येक व्यक्त अस्तित्व में तीनों ही शरीर मौजूद हैं । लेकिन चूँकि किसी में किसी की विशेषता अधिक और किसी में कम है, अतः विभिन्न स्थितियाँ (Stages) स्थापित की जाती हैं:—

(१) खनिज पदार्थों (Minerals) में कारण देह ही स्थूल है । दूसरे देह इसी के अन्तर्गत है, और वह बाह्य रूप से सवेदनहीनता (Insensibility) की दशा में रहते हुए अणुओं को अपने अन्दर खींचते, मिलाते और सोखते हैं जैसे गहरी नींद में आदमी को कोई दूध पिला कर रखे । इसमें स्थूल दशा में कारण देह है और सुषुप्ति अवस्था है ।

(२) वनस्पतियों में कारण देह के साथ स्थूल देह है और सूक्ष्म देह उसके अन्तर्गत है । वह हरकत और बेहरकत वाले इस प्रकार अणुओं को खींच-खींच कर अपने में मिलाते और सोखते हैं, जैसी कि नवजात शिशु की दशा होती है । इनमें स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था होती है ।

(३) पशुओं में कारण, सूक्ष्म और स्थूल देह तीनों ही हैं । और तीनों ही में वह रहते हुए खाते-पीते, सोते--जागते और सुख-दुख भोगते हैं । उनमें जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों ही अवस्थाएँ हैं ।

(४) मनुष्यों में कारण, सूक्ष्म और स्थूल देह तीनों हैं । उन्हीं के सिलसिले में उनके भरण-पोषण, प्रगति, विचार और सुख को बल प्राप्त होता रहता है । इनमें से किन्हीं किन्हीं में एक प्रकार की चौथी हालत भी रहती है जिसकी चर्चा इस सिलसिले के अन्त में आयेगी ।

(क्रमशः)

ग़रीबी

ग़रीबी की हालत वह है जिसको लोग तरसते चले गए हैं, और सम्भव है इसका मज़ा बहुत से ऋषियों ने भी न चखा हो । मालदार आदमी के पास सब कुछ होता है, ग़रीब आदमी के पास कुछ नहीं होता है । अब जिसके पास कुछ नहीं है उसके पास क्या चीज़ हो सकती है जो दूसरों को दे ? अब यदि दे तो उस चीज़ का नाम 'कुछ नहीं' रख लिया जाये तो यह एक ऐसी चीज़ बन जाती है जो कि देने क़ाबिल नहीं रहती । एक धनी आदमी अपनी पूँजी दूसरों को दे सकता था । जब ग़रीबी बढ़ती गई, उसका देना कम होता गया । जब कुछ न रहा, कुछ न देसका । अब अगर उससे माँगकर देखो तो भला उसके पास क्या है जो देगा ? अगर मुझको ऐसा ही समझ लिया जावे, तो मेरे पास देने को कुछ नहीं रहता । हाँ इसके अन्दर एक बात ज़रूर है कि कुछ नहीं की तह में यानी जिसको 'कुछ नहीं' कहा है, कोई चीज़ ज़रूर है जो दी जा सकती है । इसके आगे यह भी नहीं रहता। वहाँ पर देना और लेना सब समाप्त हो जाता है । अब इस हालत में पहुँचने के लिए तरीक़ा बिल्कुल साफ़ है कि एक मालदार आदमी के पास जो कुछ हो उसको छीनता चले । आख़िर में जब उसके पास कुछ न रह जायेगा तो वह ग़रीबी की हालत पर आ जायेगा । किन्तु अब यह प्रश्न उठता कि किसी का माल असबाब छीनना शास्त्र के विरुद्ध तो न होगा ? अगर इसका जवाब कोई यह दे कि सामान रहते हुये उससे बेखबर हो जावे, तो यह सवाल पैदा होता है कि किसी न किसी शक़्ल में सामान तो उसके पास रहा ही फिर सामान रहते

—'अनन्त यात्रा' स्तम्भ में प्रकाशित पत्र
व्यावहार का नम्बर २६

हुये ग़रीबी कैसे आसकती है और अगर बेख़बर भी हो गया हो तो समय पर ज़रूरत उसको सचेत कर देगी। अब क्या होना चाहिए ? बस यही तरक़ीब हो सकती है कि सामान को ऐसी जगह रखवा देवें कि ज़रूरत पड़ने पर उसकी ख़बर हो जावे, तो फिर यह ख़याल पैदा होता है कि यह चीज़ धरोहर रक्खी हुई है। यह शुरू का तरीक़ा है और आगे बढ़ने पर इस सामान को जो बतौर धरोहर दूसरे के पास रक्खा हुआ है 'उसका' ही समझ लें और अपना कोई अधिकार उस पर बाक़ी न रक्खें, तब यह बात पैदा हो सकती है कि सब कुछ होते हुये अपने पास कुछ न महसूस हो: अब मान लो कि हमारे पास जो अंदरूनी ताक़तें और सिद्धियाँ हैं यानी जो ताक़तें हमको ईश्वर से मिली है उसको अगर हम सब ईश्वर की समझ लेवें और उसको इन पर क़ाबू और अख़्तियार दे देवें, या दूसरे शब्दों में इनको 'उसके' हाथ बेच डालें तो हम हर चीज़ से ख़ाली हो जाते हैं। अब यह चीज़ पैदा होती है कि ऐसे अमानतदार को ढूँढ़ें कैसे, कि यह चीज़ उसके हवाले कर सकें ? वह तो इतनी दूर है जैसा कि ख़याल है कि वहाँ तक पहुँचना कठिन है और अगर वह सबसे नज़दीक भी है तो उसका यह हाल है कि जैसे अपनी आँख ख़ुद अपनी आँख को नहीं देख सकती है। तो भला ऐसे अमानतदार को कैसे पावें ? जवाब इसका यही है कि हम अगर सिर से पैर तक आँख बन जावें, तो कम से कम हमको कहने को ज़रूर रह जायेगा कि हम अब कुल आँख ही आँख हो गये। अब ज़रूरत सिर्फ़ इस बात की रह जायेगी कि हम उसको तलाश करें। जब हम कुल आँख ही आँख बन गये तो इसके माने यह हुये कि देखने की ताक़त हमारे कुल बदन में है। अब देखना क्या रहा जब हम कुल आँख ही आँख रह गये और अब हमारे पास सिवाय इस चीज़ के कुछ न रह गया। अब यह बात भी जाती रही कि आँख को आँख नहीं देख सकती, इसलिए कि वह ताक़त जो उसके देखने की तरफ़ हमको मायल कर रही थी, उसका अब ख़ात्मा होगया और इसलिए कि उन ताक़तों की जगह पर जो अनेक रूप में हैं, अब आँख ही रह गई है। अब तो बेटा, यह हो गया है कि हर तरफ़ वह चीज़ है जिससे कि रोशनी निकलती है। जो आँख, आँख को देखना चाहती थी वह अब सर से पैर तक

एक हो गई है। उसको देखने की अब अपने आप को ज़रूरत भी नहीं रही।

इस कुल इबारत का मज़मून यह है कि जैसे आँख ही आँख अपने में दिखलाई देती थीं तो वह चीज़ें जाती रहीं, जिससे आँख को आँख देख सकती थी। इसी तरह से अगर हम बजाय आँख के ईश्वर ही ईश्वर को भास करने लगें तो फिर हमको अमानतदार की तलाश नहीं रह जाती। इसलिए कि फिर वह कुल चीज़ असली रूप में हो जाती है, जिसको हम अमानतदार के हवाले करना चाहते थे। अब ग़रीबी आई मगर हमको मालदारी और ग़रीबी दोनों का ख़ात्मा करना है, जो तभी हो सकता है कि बजाय कुल सिर से पैर तक आँख बनने के वही असली आँख जो ईश्वर है बन जावे। और ऐसा स्वाभाविक कि इसका भी पता न रहे, तब मालदारी और ग़रीबी दोनों ग़ायब होती हैं।

पिछली चिट्ठी में जो मैंने अपनी ग़रीबी का ज़िक्र किया था वह हालत बन्दे की है और इसके आगे बड़ी Personality और इससे आगे अवतारों की है। इस पत्र का उत्तर अगर तुम लिखो तो मेरा दिल बड़ा ख़ुश हो और लिखो ही क्या, ऐसा ही होने की प्रार्थना करो। ईश्वर से कुछ दूर नहीं वह सब कुछ कर सकता है। तुम जब शाहजहाँपुर आये थे तो तुमने कहा था कि बाबूजी मुझे नौकर रख लो। मैं इन प्रेम भरे शब्दों से ख़ुश हुआ। बेटा केवल तन्दुरुस्ती का इंतज़ार है और इसी की वजह से धीरे धीरे का मज़मून है वरना रूहानियत असल रूप में पैदा हो जाना एक क्षण-मात्र का काम है। इस नौकरी की तनख़्वाह तुमने छः सिटिङ्ग रोज़ माँगी हैं। ईश्वर ने चाहा तो तुम्हारी वह हालत पैदा होगी कि हर समय सिटिङ्ग ही सिटिङ्ग रहेगी। फिर क्या होगा जिसका मैं नौकर हूँ उसकी ही नौकरी तुम कर लेना। मैं तो कुल दुनिया को चाहता हूँ कि मुझसे अच्छी बने और मेरी प्रार्थना भी यही है कि इसके बदले में मुझे चाहे जितनी सजायें भी मिलें मुझे सब बरदाश्त हैं। इस पत्र में मैंने वैराग्य और लय-अवस्था बतलाई है और यह भी दिखलाया है कि ईश्वर-दर्शन क्या है ? ईश्वर-दर्शन की हालत और

उसका आनन्द ऐसा समझ लो जैसे संग (पत्थर) बे—नमक और आखिर में यही कैफियत हो जाती है । इसके लिएजन्म जन्मान्तर लोग मेहनत करते हैं और इसके एवज़ में जो मिलता है उसको अगर शुरू में दे दिया जावे तो लोग भागने के लिए तैयार हो जायें और ईश्वर की तरफ़ कोई न राग़िब हो]

—:o:—

भजन

❀ ❀ ❀

आपुन पौ आपुन ही मैं पायौ ।

सब्दहि सब्द भयौ उजियारौ, सतगुरु भेद बतायौ ॥
ज्यों कुरंग–नाभी कस्तूरी, ढूँढ़त फिरत भुलायौ ।
फिरि चितयौ जब चेतन ह्वै करि, अपनैं ही तन छायौ ॥
राज–कुमारि कंठ–मनि–भूषन, भ्रम भयौ कहूँ गँवायौ ।
दियौ बताइ और सखियनि तब, तनु कौ ताप नसायौ ॥
सपने माहिं नारि को भ्रम भयौ, बालक कहूँ हिरायौ ।
जागि लख्यौ, ज्यौं कौ त्यौं ही है, ना कहुँ गयौ न आयौ ॥
सूरदास समुझै की यह गति, मन मन ही मुसुकायौ ।
कहि न जाइ या सुख की महिमा, ज्यौं गूँगे गुर खायौ ॥

—सूरदास

———

अनन्त यात्रा

[इस स्थायी स्तम्भ का उद्देश्य साधकों की आध्यात्मिक प्रगति का विवरणात्मक चित्र प्रस्तुत करके ब्रह्म–विद्या को सुव्यवस्थित वैज्ञानिक अध्ययन के लिये सुलभ करना है । एतदर्थ श्रद्धेय 'बाबू जी' के साथ एक श्रेष्ठ एवं संवेदनशील अभ्यासी के पत्र-व्यवहार का क्रमशः प्रकाशन किया जा रहा है । पत्रों के केवल वही अंश प्रकाशित किये जा रहे हैं, जो आध्यात्मिक स्थितियों के अनुभव से सम्बन्धित हैं । अभ्यासी का नाम आदि व्यक्तिगत बातें प्रकाशित नहीं की जा रही हैं । —सम्पादक]

(पत्र संख्या २१)

परम पूज्य श्रद्धेय 'श्री बाबू जी' के

चरणों में सादर प्रणाम ।

कृपा–पत्र आपका मिला—पढ़कर प्रसन्नता हुई । मेरा एक पत्र आपको मिला होगा, तबसे दशा में कोई अधिक परिवर्तन तो नहीं हुआ; हाँ कभी कभी मस्तक पर बीच में से शान्ति निकलती मालूम पड़ती है । Sitting लेने पर कभी कभी जब दृष्टि वहां ठहर जाती है तो ऐसा मालूम पड़ता है कि मस्तक में गोल चक्र सा है और उसमें कुछ स्पन्दन सा मालूम पड़ता है । वैसे दशा तो अब यह है कि खिंदापन तो जा रहा है, उसकी जगह मुर्दापन अधिक बढ़ रहा है ।

पूज्य श्री बाबू जी, चैन की जगह बेचैनी भी अन्दर ही अन्दर बढ़ रही हैं । केवल अपने 'प्रभु' से मिलने की उत्कंठा में मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता है । यह आप या पूज्य……ही जानें कि क्या अवस्था बढ़ रही है; मुझे तो केवल इतना मालूम है कि 'आपका' सहारा पाकर भी यदि उस सर्वशक्तिमान ईश्वर को न पाया तो मुझे धिक्कार है । यदि इस चीज़ में उन्नति का ओर छोर नहीं है तो 'आपके' आशीर्वाद से और ईश्वर की कृपा से

जहाँ तक हो सकेगा उस ईश्वर को प्राप्त करने की इच्छा और 'उसकी' याद का भी ओर छोर नहीं रहने दूँगा। आपने लिखा है कि सिर्फ 'ईश्वर' ही पूर्ण है और सब अपूर्ण हैं, तो मैं भी पूर्ण को ही प्राप्त करके पूर्ण ही न हो जाऊँ, अपूर्ण क्यों रहूँ। 'आपके' कथनानुसार बस आज से कभी भी किसी के लिये बुरी बात मेरे मुख से नहीं निकल सकती चाहे जो भी हो जाये। 'आप' कितने स्नेही एवं दयालु हैं कि मेरी मानसिक उन्नति के साथ शरीर की उन्नति के लिए भी कितने परेशान होते हैं।

आपकी दीन, हीन संतान

.....

(पत्र संख्या २२)

परम पूज्य श्रद्धेय 'श्री बाबू जी' के

चरणों में सादर प्रणाम

मेरा पत्र आपको मिला होगा। कृपा-पत्र आपका स्वयं लिखा हुआ जो पूज्य.....के लिये आया था उसे सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने जो दशा आपको पहले लिखी थी अब वह बात तो नहीं मालूम पड़ती परन्तु न जाने क्यों अब जब कोई ईश्वर-प्रेम की बातें करने लगता है तो प्रेम तो मुझे नहीं मालूम पड़ता, किन्तु स्वतः ही रुलाई बहुत आने लगती है, और रोकने से भी नहीं रुकती है।

मेरे श्री बाबू जी, अब तो हर समय बहुत सरलता और हल्कापन मालूम पड़ता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि हृदय का सारा बोझ उतर गया है। कभी कभी जब कोई आ जाता है या मैं ही कहीं जाता हूँ तो सबसे बात करते करते बीच में मन की तरफ देखता हूँ तो ऐसा मालूम पड़ता है कि मानों वह कहीं लगा हुआ है। माथे में कुछ गुदगुदी सी अधिक मालूम पड़ती है। जैसे दिमाग सो जाता था वैसे ही बैठे बैठे माथे और नाभि में भी शून्यता मालूम पड़ती है। कभी कभी नाभि में कुछ धड़कन भी मालूम पड़ने लगती है। वैसे अब मुझे न जाने क्या हो गया है कि अधिकतर तो अपना शरीर ही नहीं मालूम पड़ता है। बीच

में दो दिन दिमाग में कुछ बेकार के विचार आ जाते थे, परन्तु मन देखने पर शान्त ही मालूम पड़ता था। अब दशा बहुत अच्छी मालूम पड़ती है। माथे से शान्ति अब भी निकलती मालूम पड़ती है। न मालूम क्यों ८-१० दिन से जो बात होने को होती है वह पहले से ही अपने आप ही मन में आने लगती है। असली हालत तो यही है कि जिन्दा से मुर्दा हो रहा हूँ। कृपया आप इस भिखारी के लिये 'मालिक' से 'उसका' प्रेम माँगना न भूलियेगा क्यों कि इसमें प्रेम की बहुत कमी है।

आपकी दीन, हीन संतान

.....

(पत्र संख्या २३)

परम पूज्य तथा श्रद्धेय 'बाबू जी' के

चरणों में सादर प्रणाम।

मेरा एक पत्र आपको मिला होगा। अब जो दशा है वह लिख रहा हूँ। कई दिनों से मन बिल्कुल डूबा सा रहता है। चाहे कुछ पढ़ूँ, बात करूँ या कुछ काम भी करने पर ऐसा ही मालूम पड़ता है, मानों अभी पूजा कर के उठा हूँ। रात में जब भी सो कर उठता हूँ तो ऐसा ही मालूम पड़ता है कि अभी पूजा ही कर रहा था। किसी भी बात का या काम का मन पर कोई असर नहीं मालूम पड़ता है। दिमाग में चाहे कोई विचार आ जावे परन्तु मन फिर भी मस्त ही रहता है।

मेरे 'श्री बाबू जी'; जरा सी Sitting लेना आरंभ करते ही शरीर बिल्कुल निश्चेष्ट सा होने लगता है। दिन भर में जो कुछ भी कर्म इस शरीर, मन व बुद्धि से बन पड़ते हैं बस ऐसा ही भाव रहता है कि बस 'मालिक' कर रहा है और 'उसी' की प्रेरणा से सब हो रहा है। स्वप्न में भी कभी ऐसा दिखाई देता है मानो 'आप' Sitting दे रहे हैं। जो कुछ भी दशा है 'आप' ही जानें, मुझे क्या करना। मैं तो 'मालिक' के अर्पण हो चुका हूँ। मुझे

तो केवल एकमात्र उसे ही प्राप्त करना है। 'आप' भी कृपा करके मुझे 'मालिक' के प्रेम से सराबोर रक्खें।

आपकी दीन, हीन संतान

.....

(पत्र संख्या २४)

'श्री बाबू जी' का उत्तर

प्रिय.....

आशीर्वाद।

मुझे हर्ष है कि ऐसे अच्छे पत्र आध्यात्मिक-उन्नति के मिले जाते हैं। ईश्वर को धन्यवाद है। मुझे कोई नहीं पूछता और न मेरी कोई ख़बर लेता है और पूछे भी कौन; जबकि मेरे पास ज़ाहिरा कोई दौलत मालूम नहीं होती। लोग आते तो अवश्य हैं और मुझसे सीखते भी हैं परन्तु, बहुत कम एक आध इस ग़रीब को पत्र द्वारा पूछ लेते हैं। मेरे पास अब सिवाय ग़रीबपन के और कुछ नहीं है जिससे लोग मेरी तरफ आकर्षित हों। तोशा (सफ़र का सामान) तो मैंने रक्खा ही नहीं क्यों कि अब सफ़र करना ही नहीं है। अब अगर किसी से मैं यह कहूँ कि तुम सफ़र करो अपने वतन का तो क्या वह यह कहने का हक़दार नहीं है कि ऐसे सफ़र से तो दरगुजरा की मंज़िल हासिल होते ही या उस पर पहुँचते ही अपना तोशा भी खो दूँ ? सामान जब सब खो दिया तो अपने पास रह ही क्या गया ? क्या सफ़र का यही नतीजा है ? फिर बातचीत और सत्संग से लोग जब यह जानने लगते हैं तो अक्सर उनकी तबियत हटने लगती है।

तो प्यारे बेटे, अब मेरे पास क्या है जो मैं तुम सबको दूँ। अगर खोई हुई चीज़ फिर से हासिल करने की कोशिश करूँ तो वह भी नहीं होता। इससे कि मैंने उससे इस सफ़र की क़ीमत अदा की है। अब रह क्या गया मेरे पास ? बस कुछ नहीं और इसको लेने के लिये इक्का दुक्का कठिनता से तैयार होते हैं। तो

क्या तुम्हें यह चीज़ भली मालूम होती है ? प्रेम और मोहब्बत जिसको तुम चाहते हो, मेरे पास अब वह भी नहीं रहा जो तुमको दे डालूँ। हाँ यह हो सकता है कि हम तुम दोनों हाथ पसार कर ईश्वर के सामने इसको देने की प्रार्थना करें। उसमें डर इस बात का है कि कहीं 'उसने' यह कह दिया कि जिसने मुझे अपना सब कुछ दे डाला, उसे अगर प्रेम दिया जाये तो क्या वह ग़रीब रख सकेगा। मुमकिन है कि ईश्वर अपना प्रेम तुमको दे देवे और भाई अपने लिए तो मुझे शक है कि जाने वह देगा या नहीं। इसलिए कि मेरी क़लई उस पर खुल चुकी है। तुमने जो कुछ भी हालत लिखी है, डर है कि मेरी तरह कहीं धोखे से इस सफ़र की क़ीमत अदा न कर दो और एक ग़रीब बेनवा (बेसरो-सामान) की तरह न बन जाओ।

तुम्हारा शुभचिन्तक
रामचन्द्र

(पत्र संख्या २५)

परम पूज्य तथा श्रद्धेय श्रीबाबू जी,

सादर प्रणाम।

आपके आशीर्वादों से भरा हुआ कृपा-पत्र प्राप्त हुआ-पढ़ कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। थोड़ी देर तक तो मेरी दशा बिल्कुल अचेत सी हो गई थी। पूज्य श्रीबाबूजी, आप मुझे तो बस अपनी ग़रीबी ही दे दीजिये। मैं अमीर बन कर क्या करूँगा, और इस निर्बल शरीर में अमीरी को स्थाई रखने के लिए बल, बुद्धि एवं युक्ति भी तो नहीं है। रही सफ़र की बात सो अब सफ़र करते करते तो बहुत थक गया हूँ, अब तो ऐसे सफ़र से तो छुट्टी मिले ऐसी ही कृपा कीजिए।

श्रीबाबूजी; मैं तो सच्ची शपथ खाकर कहता हूँ कि इस चीज़ को लेने के लिए अपना सर्वस्व ही न्यौछावर कर चुका हूँ। अब यह चीज़ अच्छी हो या बुरी इससे तो इस ग़रीब को कोई मतलब

नहीं है। बस इसे तो लेना ही है । मैं कहूँ चाहे कुछ भी परन्तु सच तो यह है कि मुझे तो यह भी नहीं मालूम कि 'मालिक' से क्या माँगूँ । अब तो 'उसके' ही अर्पण हो चुका हूँ । रोम रोम उसी जगदीश्वर का हो चुका है । मेरा तो मैं स्वयं ही नहीं रह गया हूँ, अब तो जो उसकी मर्जी हो वह दे या न दे । अब करना भी क्या है। जिसकी चीज है वह स्वय फ़िक्र करेगा–मैं तो निर्द्वन्द्व हूँ । जब वह प्रेम देगा तो प्रेम में मस्त रहूँगा, ग़रीबी देगा तो उस ग़रीबी में ही मस्त हूँ । भाई अब तो वतन भी 'वही' है, सफ़र भी वही है, सामान भी वही है और मैं भी वही हूँ । अब तो शीघ्र ही बसंत-पंचमी में हम सब आयेंगे ।

आपकी दीन, हीन संतान

.....

(पत्र संख्या २६)

श्री बाबू जी का उत्तर

प्रिय..... .....

आशीर्वाद ।

पत्र तुम्हारा मिला । अब उत्सव के पश्चात् उसका उत्तर दे रहा हूँ । तुमने जो मेरे ख़त का जवाब दिया है यह उसका जवाब था जिसको मैंने लिखा है कि मैं बहुत ग़रीब हूँ ।

(शेष पत्र इसी अङ्क के पृष्ठ १३ पर 'ग़रीबी' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित है]

शुभ चिन्तक
रामचन्द्र

(क्रमशः)

—☼—

साधन पथ

(कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी)

बहुधा साधकों के हृदय में यह प्रश्न रहता है कि हम कैसे जानें कि हम आध्यात्मिक-क्षेत्र में उन्नति पथ पर अग्रसर हो रहे है । प्रश्न तो यह साधारण ही है किन्तु इसका उत्तर कदाचित् गम्भीर हो सकता है । वह यह कि हमारे अंदर भी कोई अलौकिकता एवं विलक्षणता उत्पन्न होकर जीवन में ऐसी घर कर ले कि हमारा जीवन उस मय ही हो जावे । वैसे तो कोई न कोई विलक्षणता प्रत्येक मानव में पाई जाती है एवं महापुरुषों में कुछ विशेषता लिये होती है । किन्तु जहाँ तक इनका सम्बन्ध है वे त्रिगुणों, अर्थात् सत्त्व, रज एव तम के ही अन्तर्गत पाई जाती हैं । उदाहरण स्वरूप अमुक पुरुष के मुख पर ऐसी शान्ति बिराजती है मानों शान्ति की प्रतिमूर्ति ही हो; कहते हैं कि प्राचीन काल में ऋषियों के आश्रमों में सिंह एवं मृगशावक एक ही घाट पानी पीते थे इत्यादि २ । किन्तु साधकीय-जीवन में इन सब बातों की महानता केवल सत्त्व के प्रधान होने के लक्षण तक ही सीमित है । जहाँ तक आध्यात्मिक–उन्नति का प्रश्न उठता है वहां पर तो एक अनोखी पावन विलक्षणता ही उससे सम्बन्धित है । अर्थात् वह महानता एवं विशेषता जो हमारी अन्तरात्मा में या ईश्वर में पाई जाती हैं तथा जो संत, महात्माजन कहते चले आए एवं गीता में भी जिसका प्रमाण है कि:—

नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारूतः ॥

यही बातें हमारे जीवन में उतरने लग जायें ।

जब हम आध्यात्मिक–क्षेत्र में उन्नति करते हैं तो सर्व प्रथम

जो हमारी अन्तरात्मा की विलक्षणता की प्रशंसा में आना है कि 'संग रहते हुये भी असंग होना', यही विलक्षणता हमारे जीवन में घर करती जाती है। हम तमाम लौकिक-कर्म करते हुये भी उससे असंग अर्थात् अकर्त्ता ही रहते हैं। ऐसा तो होता ही है। क्यों कि ऐसा होना अनिवार्य ही है, एवं संस्कारों का बनना समाप्त होने का लक्षण भी यही है। किन्तु ऐसा होता तभी है जब कि हमारी साधना का पथ सहज, सीधा-सादा एव बाह्य-आडम्बरों से रहित होता है। इसकी पहचान भी यही है कि साधक, पथ में फिर कभी चैन से बैठने नहीं पाता है। खाना, पीना और सोना सब हराम हो जाता है। ऐसा तो होता ही है क्यों कि साधना अपने साध्य से योग कर देने का ही एक साधन होता है। साधन में हमारे प्रियतम ईश्वर की शक्ति एक समान गति से प्रवाहित रहती है जो कि सर्व प्रथम हमारे मन के चैन को ईश्वर की उसी प्रवाहित-शक्ति से बांध कर हमको संसार के कर्मों से बेसुध व बेबुद बना देती है; और स्वयं निरीक्षक बन जाती है कि न इधर के यानी संसार के कर्म में चूक होने पाये और न उधर के अर्थात् मन की उच्चतम अवस्था में किंचित मात्र भी अन्तर आने पाये। इश्वर के स्मरण एवं ध्यान की वास्तविक स्थिति भी यही है कि "दुरंगी छोड़ कर एक रंग होजा, सरापा मोम हो या संग हो जा"! आत्मिक उन्नति की कसौटी की परिभाषा भी यही है।

लेखक स्टीवेन्सन का कथन है कि सरलता ही मुक्ति है और जटिलता ही बन्धन है और आध्यात्मिक-क्षेत्र में इसका ही बहुत महत्व है, क्योंकि सरलता-मय जीवन की प्रशसा यही है कि सग रहते हुये भी असग हो। वैसे अभ्यास करके भी अत्यन्त विनम्र एवं सरल बना जा सकता है, किन्तु दोनों में तनिक अन्तर अवश्य रहता है। जिसने गुण को अपने में उतारने का अभ्यास किया वह त्रिगुणों के ही अन्तर्गत रहा है। और जो साधना द्वारा हमारे अन्तर में प्रस्फुटित होता है, वह तो एक सहजता एवं विलक्षणता लिये होता है। जीवन में स्थित रहते हुये भी हमें उसका आभास नहीं होता, और न हमें बारम्बार उसकी सँभाल करने की ही आवश्यकता रहती है, क्योंकि वह वस्तु तो स्वाभाविक तौर पर ही

हमारे अन्तर में उतरी हुई है, जो कि दोषों से घिरे रहने पर भी हमें अदोष रखती है। किन्तु जो सरलता अभ्यास द्वारा हमारे में आई है, वह हमारी अपनी कमाई है, जिसका क्रय और विक्रय लगा ही रहता है। छोटा बालक बिल्कुल निर्दोष एवं निःसग रहता है, क्यों कि उसकी चेतना उसके अहं और बुद्धि से परे एक पावन चेतना में ही सीमित रहती है। इस प्रकार निष्पाप होकर एवं जीवन में मुक्त होकर हम विराट बनते हैं। ईश्वर मय जीवन एवं विराट के साथ मिला हुआ जीवन ही हमें भूमा या अमृत सुख की ओर ले जाता है। यजुर्वेद यही कहता है कि 'हे शांति के आँगन में खेलने वाले अनंत-प्राणी, यदि जीवन में किसी बात की इच्छा करते हो, तो भूमा को लोक की या विश्व-लोक की इच्छा करो।' यदि हम यह कहें कि साधना में भेद होता है तो यह असत्य ही होगा, क्यों कि भेद साधना में नहीं होता, वह तो क्रिया में होता है। साधना तो वही है जिससे कि हमारा प्रियतम साध्य दिनों दिन हमारे समीप खिंचता आता है, या हमें अपने में लय करता चला जाता है। और जिन उपायों से हम वास्तविक साधना की प्राप्ति करते हैं वह क्रिया है।

साधना विलक्षणता, शान्ति एवं सरलतामय एवं अहंता-रहित होती है। और क्रिया भी यदि साधगी (जो कि क्रिया का प्राण है) से रहित हुई तो वह अहंता और हठ लिये होती है और साधक को यही प्रदान करती है। साधना चैतन्य, ईश्वर-मय है इसलिये सरल और नित्य आनन्दमयी है किन्तु स्वयं नित्य नहीं है क्यों कि साधना तो साध्य का वह प्रकाश-पथ है जिस पर चलता हुआ उस अनन्त-पथ का पथिक कभी पथ-भ्रष्ट नहीं हो सकता है जिसे ईश्वरीय-प्रकाश के नाम से पुकारा जाता है, जो कि सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है, जिसका दूसरा नाम प्रेम है, जो कि अपने प्रयोजन पर आधारित है। उसमें स्वयं मानों कोई शक्ति नहीं है। इसकी डोरी में बँधे साधक की तो बस यही गूँगी पुकार एवं सूखा रोदन रहता है कि :

'प्रेम प्रीति को बिरवा चल्यो लगाय,
सींचन की सुधि लीजियो मुरझि न जाय'

अर्थात् सींचने की भी सुधि तुम्हीं लेना । यही नहीं वह तो खुले आम पुकार उठता है कि:—

'दोषी करो, दोषी करो, धुलाय–पड़ा म्लान कुसुम
पायेर तलाय धरो'

अर्थात् 'हे देव, मुझे दोषी बनाओ, दोषी बनाओ और धूल में पड़े (इस) म्लान कुसुम को चरण–तल में स्थान दो । यही नहीं बल्कि वह कहता है कि:—

'अपराधे भरा डालि, निज हाथे करो खालि ।
तार परे सेइ शून्य डालाय, तोमार करुणा भरो ।।'

अर्थात्, 'अपराधों से भरी इस डलिया को अपने हाथों से खाली करो और इसके बाद उसी रिक्त डलिया में अपनी करुणा भर दो' । तथापि होता भी ऐसा ही है कि वह सर्वान्तर्यामी, साधक की तमाम त्रुटियों को अपनी क्षमा में गूँथकर अपने गले में डाल लेता है, और साधक को मुक्त कर देता है । एक बार परम पूज्य 'श्री बाबूजी महाराज' ने लिखा भी था कि एक समय ऐसा आता है कि "साध्य को साधक के सँस्कारों को शीघ्र समाप्त करने के लिये उन्हें स्वयं भोगने के लिये मजबूर होना पड़ता है" । इसलिये कि जब देने की व्यथा हमारे हृदय-तल में बज उठती है तो फिर हमारी वेदना 'उसकी' वेदना में मिलेगी ही । यमुना की काली धारा को गंगा में मिलना ही होगा । यह देने की व्यथा ही साधक को मिटा देती है ।

प्रकृति का कुछ ऐसा नियम है कि जिस पर हम प्रसन्न होते हैं उसे कुछ देना चाहते हैं । इसी प्रकार जब साधना द्वारा हमारे अन्तर की डलिया उसके प्रेम से लबालब हो जाती है, हमारे अंतर का प्राँगण प्रियतम की ज्योत्सना से चमक उठता है तो हमारे अंतर में 'उसे' कुछ देने की वेदना भर उठती है । किन्तु वह भोला साधक या प्रेमी क्या जाने कि उसकी वेदना उसे ही खा जायेगी; उसके अंतर की डलिया को अनजाने ही प्रियतम के चरणों में लुटा कर अपने अंतर में भरी उसकी पावन, सरल एवं आनन्दमयी ज्योत्सना

को भी प्रभु पर ही न्यौछावर करके एक ऐसी डगर में पहुँच जाती है जहाँ पर स्वयं उसके ही समा जाने के लिए स्थान नहीं मिलता । फिर तो लाचार उसका अहं–भाव भी लौट जाता है, एवं साधक लय अवस्था के अविरल–सागर में डूब जाता है और प्रियतम के स्थान का पता देने वाली साधना का अंत हो जाता है । अब वह एक ऐसी विलक्षणता के क्षेत्र में व्याप्त हो जाता कि जहाँ पर प्रियतम की पहचान एवं आत्मिक–उन्नति की पहचान, ऊँच–नीच की जांच, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श शब्द इन सब पर पानी फिर जाता है । तब वह सर्व-व्यापक, सर्व–दर्शी, सर्व-प्रिय एवं सर्व–शक्तिमान् होता हुआ भी नूतन-बालवत्, निर्दोषावस्था में विचरने लगता है ।

बहुधा भाइयों का यह कथन होता है कि अमुक संस्कारी व्यक्ति है, वह ईश्वर को प्राप्त कर लेगा; हम तो सांसारिक–झंझटों में घिरे पाप-पुण्यों में फँसे भला ईश्वर तक किस प्रकार पहुँच सकते हैं । कि हम सूर्य के प्रकाश से जितनी अधिक दूरी पर होते हैं आप कहते हैं परछाई उतनी ही लम्बी दिखाई पड़ती है । अपना साया उतना ही लम्बा होता जाता है किन्तु हम प्रकाश के जितने निकट होते जाते हैं अपनी परछाई भी छोटी पड़ती जाती है । ईश्वर करे कभी जब सूर्य बिल्कुल सिर पर ही आ जाता है तो अपन परछाई अपने में ही विलीन हो जाती है । उसी प्रकार हम जितना ही ईश्वरीय-प्रकाश से दूर होते हैं अहंता का साया अज्ञान व दुःख की छाया लम्बी ही होती जाती है । किन्तु सद्गुरू की कृपा-रूपी साधना द्वारा ज्यों २ हम 'उसके' सन्निकट पहुँचते जाते हैं हमारी अपनी परछाई छोटी पड़ने लगती है और एक दिन जब जान या अनजान में भी, समाधि, लय एवं मुक्तावस्था में पैरते हुये, एक ऐसी वेदना लिये उसके क्षेत्र में जा पहुँचते हैं कि:—

घनश्याम बता दो कि कभी दीद भी होगी ।
हर रोज़ मुहर्रम है कभी ईद भी होगी ।।

तो फिर हमारी परछाईं सदैव के लिये हमारा साथ छोड़कर विलीन हो जाती है । तब जीवन में, अन्दर, बाहर कण कण में एक दिव्यता घर कर लेती है वह व्यापक हो जाती है । महापुरुषों का

कथन है कि 'यदि अपने साये से पीछा छुटाना चाहते हो तो ईश्वर के साये में आ जाओ, तुम्हें दुःख न व्यापेगा। फिर 'प्रियतम' से दूरी ही कितनी शेष रह जाती है ? किसी ने कितना सत्य कहा है कि:—

,मन के अन्दर मन का प्यारा है मगर मिलता नहीं,
आँख में आँखों का तारा, है मगर मिलता नहीं' ॥

यह अवश्य है कि कहते हैं कि 'होनहार बिरुवान के, होत चीकने पात' किन्तु वह तो कुछ सीखने के लिये हमारे समक्ष महा-पुरुषों के उदाहरण हैं।

कहते हैं कि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' अर्थात्, तू अपनी तुच्छता की ओर ध्यान देकर क्यों दुखी होता है, अपनी असमर्थता को देखकर क्यों निराश हो रहा है ? तनिक वट के समान विशाल वृक्ष को उत्पन्न करने वाले बीज को देख। उसमें कितना बड़ा वैभव छिपा है। तनिक उस रज-कण को देख जो अपने सहयोग से गगन-चुम्बी प्रासादों को स्थिर रखता है। तू तो उस अचिन्त्य-शक्ति के साये में आजा फिर तेरी गणना भी केवल अपने व्यक्तित्व पर निर्धारित न रहकर सर्वोमयी हो जायेगी। योगवाशिष्ट का कथन है कि 'गरीब वह नहीं जिसके पास कम है, परन्तु वह है जिसकी आवश्यकतायें अधिक है इस प्रकार महात्मा के समक्ष पाप, पुण्य का कोई स्वरूप नहीं जिससे हम उन्हें पहचान लें बल्कि ऐसा कह लें कि जैसे English में दो शब्द हैं sun और sin। sun का अर्थ है सूर्य अर्थात् प्रकाश और sin के अर्थ हैं पाप या अन्धकार अब वह प्रकाश और यह अन्धकार क्यों बन गया जबकि प्रारम्भ का शब्द 's' और अन्तिम शब्द 'N' दोनों में समान ही है। बस अन्तर केवल मध्य से है कि 'sun' का मध्यस्थ एवं कर्त्ता है 'u' अर्थात् 'तू' और sin का मध्यस्थ एवं कर्त्ता है 'I' अर्थात 'मैं', जिस ने कि दोनों शब्दों की समानता में जमीन आसमान का अन्तर उत्पन्न कर दिया। उसके मध्यस्थ तो साधना एवं समर्पण लोटता है और इसके मध्यस्थ विराजती है अहंता।

इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि हम साधना ऐसी चुनें

जो कि हमारी अन्तर व बाह्य-वृत्तियों को समेट कर एक समान स्थिति में स्थित कर दे। स्थित करने के लिए स्थिरता ही प्रधान सहायक सिद्ध हो सकती है, जिसे हम ध्यान के द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। दर दर मागने वाले भिखारी से पूछो जिस बेचारे को दस जगह गाली खाकर तब एक जगह कुछ भीख मिलती है। जब भिखारी ही का बाना ओढ़ा तो ऐसे एक ही दर पर क्यों न जा पड़ें जो कि हमारी सारी आवश्यकताय बिना मांगे ही पूर्ण कर दे। किन्तु ऐसा होता तभी है कि:—

'कबिरा कूता राम का, मोतिया मेरा नांव।
गले राम की जेंवरी जित खींचे तित जांव' ॥

जब ऐसी समर्पणता एवं ऐसा ध्यान उत्पन्न हो जाये जो कि ध्यान करते २ स्वयं को तो भुला ही दे, ध्यान का भी ध्यान जाता रहे, तब उस बेसुध, दीवाने भिखारी को खाई खन्दकों से बचाता, 'राम' स्वयं ही लिये चलता है। यही बात प्रत्येक साधक में उत्पन्न होना अनिवार्य है। पथ एक ही है, ईश्वर के घर की राह एवं उससे मिलने का समय एवं भाँति एक ही है। साधन-पथ पर अग्रसर होते हुये साधक को आनन्द व आध्यात्मिक-स्थितियाँ एक समान ही मिलती हैं; किन्तु ऐसा होता नहीं, क्यों कि साधक अने-कानेक क्रियाओं से इसमें भिन्नता उत्पन्न कर लेता है। अन्तर इतना हो जाता है कि उस मदहोश को तो केवल 'राम' से काम रहता है और इधर हम क्रियाओं में आनन्द मानकर उसी में लिप्त हो रहते हैं।

वास्तव में पूजा, अर्चना एवं वंदना वही है जिससे कि:—

'छाँड़ै सुरति शरीर कौं, तेज पुञ्ज में जाय।
दादू ऐसे मिलि रहै, ज्यों जल जलहिं समाय' ॥

तो फिर वही स्थिति स्वयं ही आ जाती है कि 'बैठे सूते पड़े उताने, जब देखो तब वही ठिकाने'। भाई, सत्य भी है कि 'कस न दीदम कि गुम शुद अज रहे-रास्त' अर्थात् सच्चाई के रास्ते से किसी को गुमराह होते नहीं देखा। फिर तो वह कहीं जाये, कुछ भी करे, सब कुछ ईश्वर के अनुकूल ही होगा। किन्तु ऐसे प्रेम की स्थिति उत्पन्न करने के लिए भी आधार चाहिए, क्यों कि यह प्रेमाग्नि होती तो सभी के हृदय में है, किन्तु उस पर राख पड़ी हुई है।

जब सद्गुरु उस राख को अपनी प्रबल इच्छा-शक्ति से फूँक देता है तो प्रेम का दहकता हुआ अंगारा निकल आता है । किन्तु भाई कुछ भी हो बिना अन्तर में घुसे मर्म किसी ने नहीं पाया । बिना गहरे में गये मोती किसी ने नहीं पाया । हाँ, इतना अवश्य है कि अन्तर में रहने की तभी तक आवश्यकता है, जब तक साधक में शक्ति आ जायेगी, अंग प्रत्यंग में प्राण भर जायेगा । जब अग्नि जैसी जलने वाली सुधा, हलाहल की भांति पी डालने की शक्ति उस में आयेगी, तब निर्भय होकर अन्तः पुर से बाहर आ कर स्वतन्त्रता के साथ घूमने लगेगा क्यों कि तब धूल में लुढ़कने पर भी वह शुद्ध रह सकेगा । सब तरह के बन्धन अपने पर वहन करने पर भी वह स्वाधीनता के साथ सब जगह संचार कर सकेगा । ऐसी शक्ति जब तक नहीं तब तक अन्तःकरण के अन्तःपुर में पड़े रहना ही ठीक है । मैं तो यही कहूँगी कि साधना का वास्तविक स्वरूप तो तन्मयता ही है , जो साधक-जीवन का प्रधान अंग है । मदिरा के मद में तो मनुष्य कुछ समय के लिये अपने आपको भूल जाता है किन्तु साधन-पथ में तो प्रियतम परमात्मा की पावन रूप-माधुरी का पान कर साधक चिर काल के लिये अनन्त समाहित सिद्धि को प्राप्त कर विलीन हो जाता है । जिस प्रकार रक्त का संचार मानव-धमनियों में होता रहता है, उसी प्रकार भगवान की अनन्त चेतना उसके अंग प्रत्यंग में व्याप्त हो जाती है । फिर भी यह साधन-पथ, अनन्त पथ तभी सुगमता व आनन्द से तय हो पाता है जब कि सद्गुरु का हाथ साधक के मस्तक पर रहता है, क्यों कि किसी ने सत्य ही कहा है कि:—'तकला मानव-मन का प्रतीक है जो बार बार झोल खाता है, लोहार सद्गुरु है जो मन को राह पर डालता है' । इसी कारण साधना क्रिया होते हुये भी बन्धन से परे मुक्ति की दायिनी होती है । साधक साधना करते हुये भी मुक्ति एवं चिरन्तन आनन्द की ओर अग्रसर होता जाता है । वह तो बस एक ऐसी अनोखी मस्ती की रहनी में रहने लगता है कि:—

गर हाट बता दी तो वो जा हाट में साये,
गर बाट बता दी तो वो जा बाट में सोये ।
गर खाट बता दी तो उसी खाट में खुश हैं,
पूरे हैं वही मर्द जो हर हाल में खुश हैं ॥

❀ ❀ ❀

ग़ज़ल

(परिव्राजक विष्णु जी विष्णु स्वामी, 'सदा')

नाला दिलगीर नहीं, आह में तासीर नहीं ।
दम है लब पे मेरा, मुझ सा कोई दिलगीर नहीं ॥ १ ॥
कभी सहरा में भटकता हूँ, कभी बस्ती में ।
दिल को जो बाँध ले, वह गेसू-ए-जंजीर नहीं ॥ २ ॥
ज़र्रा ज़र्रा तेरे गुलशन का है ढूँढा ज़ालिम ।
तेरी तस्वीर सी पाई कोई तस्वीर नहीं ॥ ३ ॥
हम तो कहते हैं, यही बस, कि जला लो जी भर ।
दिल की इस खाक से बढ़कर कोई अक्सीर नहीं ॥ ४ ॥
साक़िया तेरी नज़र मुझ पे क़यामत ढा दे ।
मिट के पा लूँ तुझे, इस से बड़ी तदबीर नहीं ॥ ५ ॥
ऐ 'सदा' जिस पे ये मायूस निगाहें अटकीं ।
उस के दरबार में कुछ देर हो, अन्धेर नहीं ॥ ६ ॥

० ० ० ० ०

एक दिन सत्संग के समय सृष्टि के प्रारम्भ और विकास के विषय में वार्तालाप चल रहा था । डार्विन, बर्गसाँ आदि प्रसिद्ध दार्शनिकों के सिद्धान्तों के पक्ष विपक्ष में लोग युक्तियां प्रस्तुत कर रहे थे ।

सहसा सद्गुरु ने कहा, "यह वाद-विवाद व्यर्थ ही है, क्यों कि सृष्टि के प्रारम्भ में डार्विन, बर्गसां, हम, आप कोई भी नहीं थे । सिद्धान्तों का स्वीकरण तो अपनी मानसिक संरचना के अनुसार होता है ।"

एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया, "तो फिर वास्तविक तथ्य को जानने का क्या उपाय है ?"

सद्गुरु ने बतलाया : "उपाय बस एक ही है । जैसी कुछ हम ने अपनी मानसिक रचना कर ली है, वह मिट जाये, और बस असल ही शेष रह जाये । ऐसी स्थिति आ जाने पर जो कुछ ज्ञात होगा, वास्तविक तथ्य होगा । ●

प्रार्थना

नमस्ते सते सर्वलोकाश्रयाय
नमस्ते चिते विश्वरूपात्मकाय ।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय
नमो ब्रह्मणे व्यापिने निर्गुणाय ॥
तदेकं स्मरामस्तदेकं जपामः
तदेकं जगत्साक्षिरूपं नमामः ।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं
भवाम्भोधिपोतं शरण्यं व्रजामः ॥

[समस्त लोकों के आश्रय रूप सत् को नमस्कार है;
विश्व के रूपों को अपना शरीर बनाने वाले चित् को नमस्कार है;
मोक्ष प्रदान करने वाले अद्वैत तत्व को नमस्कार है;
गुणों से रहित सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म को नमस्कार है ।
उस एक का हम स्मरण करते हैं, उस एक का हम जप करते हैं;
उस समस्त जगत के साक्षी रूप एक को हम नमस्कार करते हैं;
उस एक सत्, सबके आश्रय, किसी पर न आश्रित रहने वाले,
संसार सागर के जहाज रूप ईश्वर की हम शरण ग्रहण करते हैं ।]

—महानिर्वाण तन्त्र

[Obeisance to that Being, the basis of all the worlds; obeisance to that Consciousness, which has become the manifold universe; obeisance to that One Truth without a second which bestows liberation; obeisance to that Brahman which pervades (everything), and is (yet) devoid of attributes.

We meditate upon that One (Truth); we silently pray to that One (Truth); we bow to that One Witness of (all) the world; we seek as our shelter that One Being, the basis (of everything), Self-supporting and supreme, a ship in the sea of Samsara, helpful to the refugees.]

—Mahanirvanatantra

The Efficacious Way

(Shri Ram Chandra Ji, President S. R. C. M.)

The rituals given in the Mimansa are opposed by Shankar in his vedanta philosophy but I have no concern with any of the above views. The rituals no doubt help to some extent only in promoting Satvic vrittis. They may also offer preparatory grounds for spiritualism. As such I have no objection if it is taken up, by the way, with every thing else cooperative to Realisation.

Worship of deities is too commonly prevalent among the Hindus. It is done with the object of material gain or safety of the children. The female folk mostly adhere to it, because they give birth and bring up children and hence their ties of affection grow stronger. Let them play their own part and we should attend to our own.

I am not in favour of Japam which is exclusively external in character, though I too advise Japam in certain cases, but they are of different type. These are really the means by which an abhyasi is to try for his growth himself. But in our Sanstha the task is taken up by the Master who feeds him with the spiritual force through Transmission. Now it depends upon the Abhyasi to extract from the Master as much as he can, through love and devotion. Greater the devotion and surrender the greater will be the force flowing into him.

Now about reciting God's name over and over again advised by certain sages as the surest means of Liberation in the Kaliyuga, I believe that unless we merge ourselves in the vibrations produced by reciting the God's name we can never be sure of getting the desired result. Some scriptures tell us that if we recite the name of God continuously for 24 hours we shall have his Darshan. My mother, once, long ago, did it in all earnestness but to no effect. The theory of Darshan too, as popularly believed is not at all convincing to me on the basis of my own experience and Anubhava in Realisation. I too sometimes advise mental recitation of Rama, resting our thought all the while on His Attribute of All-pervadingness. This process is helpful in bringing about the state of Constant Remembrance too. Strictly speaking we do not actually recite anything but only fix our thought on the Attribute without trying to picture it in our vision. We have to approach the Immaterial Absolute. For that we have to take up the immaterial way as far as it is possible and practicable. Another method for it is to have the Form of the Master before you, but only when he (Guru) is admittedly the highest calibre and has his condition merged completely in God, like my most revered spiritual Father. Patanjali too recommends the same in the 37th. Sutra (probably). The four stages we come across through this process are explained in the Efficacy of Rajyoga. The last one almost ends the Egoism. It is the surest means. I followed it through out my spiritual career. If such

a Guru is available then his form may be meditated upon, otherwise the direct method is the best.

Lastly I may add that if you thirst for Realisation, try to be as simple as the Nature herself and adopt similar means, just as you adopt the childish ways to please the baby whom you wish to fondle.

I have already written that I was delighted to see your fortnightly report. Your progress seems to be speedy. May God bless you with spiritual elevation. As regards your complaint about celebacy, I have already replied to you but I want to throw some more light on the ways and means which should be adopted by a householder. We should pass on through family life in a disinterested way doing everything for the duty's sake without any feeling of attachment. For example we go to latrine, but we do not think of it afterwards. It is finished and gone. The family life is not a thing to be cursed if it is moulded in a proper way. Suppose you are compelled to do some thing (lawful) and do it for its own sake without any motive of your own, I will call it a disinterested action bearing no impression on your mind. We should think that we do everything even in connection with wife and children, in compliance of the order of God. In this way all our actions will ultimately turn into PUJA. This is a very easy method for connecting your thought link with the Almighty. ● ● ●

—From a letter to an Abhyasi.

The Knot of the Heart.

(SRI RAGHAVENDRA RAO)

"These bhumikas or stages of the Ultimate have indeed been formed for each individual ray or soul through a process of creative descent, and has formed the several knots or Granthis or planes, each developing a particular law and form of its own and has made for the bondage and sorrow. It is inevitable that a soul that has thus formed its descent should attempt its return." — — — —

(Dr. K. C. Varadachari in his foreword to अनन्त की ओर)

As human beings the first thought which occurs to us is about the present knot in which we are whirling. If we stick to this thought alone without letting it go astray we can realise that we are whirling in the Hridaya Granthi or the knot of heart. There are, of course, knots below this one also, but they are grosser ones and there are animals and other beings whose abodes are those knots. The lowest one is the Unconscious Matter consisting of the ultimate particles in restless motion. The knots higher above the knot of the heart are described in the book referred above.

So let us meditate on the knot of the heart. When we try this we feel that we are gathering ourselves at one point. We find that we have withdrawn our consciousness from the lower levels

and we are not yet aware of the higher levels of consciousness. By continued practice we come to know the reality of this knot. We find that this knot is a very comlicated one. At first we may discover many foreign things stuck up in this knot. When we realise this we automatically remove them out of it in order to find out its true form. Sometimes we find that there are some impurities which we are unable to remove by our own will-force in the beginning. To do this, lot of Abhyas (practice) is necessary. Or else, if we take the help of the Master who has got the power of Yogic transmission (PRANAHUTI) at his command it can be very easily done.

After this purification we can study this knot more closely. Now we discern in it the play of the subtle physical, subtle vital and subtle mental forces. They are sometimes in the form of likes and dislikes, various tendencies of action and receptivity and potentialities of different thoughts. Every thing is in a state of motion here. If our practice of meditation is continued still further we feel that the state of motion is retarded and that the things are settling down. We can remove out the amalgamations with our will-force or more easily with the help of the Master's power and study the knot of the pure heart.

Here a word of warning is necessary:-"- - -these knots are atonce to be understood in their true nature and dissolved (LAYA) and a higher form (SARUPYATA) recovered and integrated

(SAYUJYATA) and transcended.....They are not to be cut but loosened and transcended." (Dr. K. C. Varadachari). Some saints, caught up in the struggle to transcend the knot of the heart, had, by some gift of will- force, cut it asunder and have preached to do the same. And their followers, not knowing the teachnique began to adopt some forced, mechanical and tedious practices with adverse results.

When the heart is purified to a great extent, and if we pursue our study of it through vigilant meditation we find that the knot is getting loosened. We feel ourselves being dissolved. Even our sense of concentration is lost. If even then we remain vigilant and sensitive we can have the consciousness of the region of the heart around the knot. We jump in the state of superconsciousness, a feeling which we had never had before. Our restlessness increases. We feel a sort of limitation. We want to transcend it. The second knot is coming into our view. This is a higher one and a subtler one. We go on developing our craving to reach the second stage. After full maturity, which takes as many as forty five years, if we go on with our own effort on the right path, the first knot is crossed over & we take up our journey to the second knot.

A Guru of a very high alibre can take the aspirant to higher stages with little effort on the part of the aspirant in a comparatively short time. If fortunately we get the Master of the highest calibre, he can make us to complete the whole journey in a moment.

Now let us study this knot in a more "scientific" way, that is, more in such a way as it would be appreciated by the modern mind trained in the modern type of education. This knot is formed after the knot previous to this one has been completed. There are still many knots formed previous to that one. This sequence goes on till we arrive at the first covering of the soul. Modern intellect does not stop enquiring till it arrives at and gets its satisfaction with the First Cause. But it will be premature to think of That when we are dealing with this present knot of the heart.

Who formed this knot ? Why this has been formed ? Can it be crossed over ? What are the results when this knot is dissolved ? These are some pertinent and immediate questions which desire & deserve their satisfaction.

These can be answered by one who has had the actual experience of the return journey. The individual was alone when he was at the knot previous to this one. But there was the idea of multiplicity seeking for bliss, or Ananda externally. Different potentialities worked in different ways to get their satisfaction. The ground for the present knot was formed. Then there was contact between the senses and their objects. Each sense established its affinity with its corresponding object. Pleasure increased but the contacts could not be permanent. Displeasure followed. Friction started. Heat began to appear in the forms of grief, anger, lust,

passions etc. Discrimination has disapeared. The present knot is formed. All the subtle powers of the soul are solidified here. Tremendous energy is hidden here.

This can be crossed over when the motion is reversed, and when the tendency of seeking pleasure in external things is weakened and turned inwards. Things of lower value should be sacrificed for those of higher value. Mediate pleasure should be sacrificed for immediate good. Then this knot begins to get loosened and is ultimately dissolved. This can be done by a stroke of iron will if one has developed such will-power or if one gets the help of a worthy Master of such will-power.

When this knot begins to get loosened various experiences follow. They differ from individual to individual according to his physical, vital and mental constitutional set up and according to his sensitivity and vigilance. The spirit will be the same but its translation through the different cognitive and perceptive media will be different. Here some of the typical experience only are mentioned.

Some Abhyasis feel that all things in the world whether animate or inanimate are ejecting some Divine influence. Some feel this influence in the form of light, some in the form of fragrance, and some in the form of vibrations. Some abhyasis discern a sort of Divine rhythm in the whole universe. All things apear as dancing to a Divine tune of birth, life and death. The idea of His all-

pervasiveness reigns supreme in this stage.

When this knot opens up, some of the hidden powers of the soul are awakened and apear in the forms known as 'SIDDHIS'. The abhyasis' inward journey starts and he goes on further and further unless he permits himself to get stuck up in some miracle or other. Immediately one's spiritual life starts in this way, he feels himself to have come in some wonderland. Sometimes he is wonderstruck and stupefied and sometimes he loses himself in some kind of ecstasy.

In this way this first knot contains very many things which every one has to experience for himself. It is needless to repeat that a worthy Guru's help in this counts very much for rapid progress.

Some Common Errors in Meditation.

(SHRI ISHWAR SAHAI)

The regular process followed under the system (Sahaj Marga) is meditation on heart, thinking of the presence of the Divine Light there. It is a simple process but sometimes, due to complexities of thought in individual cases complications arise which deprive an Abhyasi of the full advantage thereof For this particular purpose I endeavour to clear some of the technical points of the process which are commonly misunderstood.

In the first place it must be clearly noted that we mean to practise meditation and not concentration. Concentration brings to our mind an idea of fixing rigidly at one and the same thought. This naturally leads us to apply the force of will for the suppression of mind or driving out irrelevent ideas. But experience shows that more we exert ourselves to it, the stronger grows the reaction in the heart and the rush of thoughts grows more intense. Consequently the Abhyasi remains involved in a mental struggle all the while and there is practically no meditation at all. We start with Dhyan–meditation and when get absorbed in it we reach the priliminary state of Samadhi or concentration. This sort of concentration should not be confused with the concentration defined above, which required exertion of will power. For such concentration an Abhyasi need not struggle within himsef. It is the natural outcome of meditation when one's being merges into one thought or feeling. Thus real concentration follows meditation in due course. It would therefore be a wrong process to take up to concentration first. So an Abhyasi must practise meditation in a simple & natural way, keeping away from the idea of concentration. Meditation implies a sense of thinking over and over again. At the initiation it may be with breaks and interruptions but after some times it forms a connected link of unconscious thought in the sub-conscious mind. That is the true form of meditation. With this view we must only take up meditation without the least effort to cocentrate and go on with it in the simplest way avoiding all physical and mental strain.

The next mistake which sometimes baffles an Abhyasi is as he often complains that he is not able to see the Light neither to grasp the exact location of heart. This is but an error of understanding. It is not the actual visualisation of the light that is necessary for the purpose but only a faint idea of it, in the form of mere supposition. Those who hanker after visualisation of Light, mean to put it under a material cloak which must necessarily be the out come of their own mental conception. Thus the thing coming to view, if at all, shall be artificial and not the real one. Moreover, the Light is not our goal. We take it up only as

a base for the thought to rest upon, in order to proceed by it to the Possessor of the Real Light or Glory. In this way we mean to proceed from the quality to substance– from the apparent to the Real. So it is equite immaterial whether we see the light at all or not. The proper course would, therefore, be to turn your attention gently towards the heart and suppose the presence of Divine light there. All efforts to localise the position of heart or to visualise the light must be avoided.

Another difficulty which sometimes arises relates to the feeling of awareness during meditation. Generally it happens that after starting meditation with a conscious idea of the object he is gradually drifted into a state of apparent forgetfulness. In such a case he generally concludes that he had drifted away from the point and had missed meditation for that time. But it it not so. The awareness remains only so long as our thought remains in touch with the physical mind. But when it goes deeper into the finer layers of consciousness the physical awareness is lost' although silent meditation goes on unconsciously in the sub-conscious mind. The only thing to be done under the circumstances is to revert gently to the object, whenever one finds himself in a state of unawareness, and we should go into meditation again without the least worry for the previous unwareness.

The other error, perhaps the most serious one, relates to the abnormal rush of thoughts during meditation. This is generally most annoying to

Abhyasi, though in fact it is not so if it is properly dealt with. The ceaseless flow of thoughts does not confine only to the meditation hours but it continues every moment. But it is more acutely felt during meditation because at that time we try to make ourselves empty of all thoughts and ideas. In other words we try to create a thought–Vacuum in our conscious mind. Now just as the rush of air towards the Vacuum is stronger so must the rush of thoughts be more forceful towards the thought–Vacuum. There is a huge store of thoughts lying buried in the deeper layers of consciousness. When by the effect of meditation, void is created in the conscious mind, the buried thoughts rise up and force their passage into the void affecting our grosser consciousness to some extent. The mind being unregulated begins to move in conjunction with them creating all sorts of troubles and disturbances. It is in fact not the rising of thoughts that is annoying to an Abhyasi but his own over–attention to them which brings him into direct conflict. The reaction thus caused makes thoughts all the more powerful and the trouble is aggravated.

The commonly advised process for dealing with the situation is the suppression of mind by means of forced restraints and physical mortifications. Mind is generally represented as a restive horse which requires a sharp whip for keeping it under control. But the whip may serve as a means to keep the evil tendencies of the mind suppressed for a short while, not allowing them to materialise into action.

In other words the evil within is retained just as it is and only its outward action is checked. How far this can be successful is a matter of serious doubt unless the mind is physically disabled to move that way, for the poison of evil, burried within may at any time begin to display its action when perchance the control is relaxed. That means a life long game of contest involving all the risk of reverses and failures. Besides this, the physical suppression by strangulation of mind leads to internal grossness and renders the mind incapable of higher ascent in subtler planes. It is in fact not the controlling of mind that is suited to our purpose but its right moulding and the proper regulation of its activities. This can be affected not by the use of whip but only by purging out the evil through the process of internal cleaning. This is the only effective way for the transformation of the real being of man. Unfortunately there are some amongst the teachers professing to guide the people in spirituality who apply their material will force for supressing the thoughts in order to create a state of coma. The Abhyasi who is incapable of understanding its true spirit feels greatly impressed since it offers him a sort of sensual pleasure which is grossly misinterpreted as 'Anandam'. Nothing related with the working of senses can offer the real Anandam and this being only a play of senses is far far away from the range of spirituality. The state of suspension commonly misunderstood as peace is likewise another serious error. It is more like a state of senselessness caused by the effect

of chloroform, hence not the least spiritual in any way. Besides, the suspension, of thoughts is greatly harmful for another reason too, If the buried thoughts are kept suppressed in the mind the chances of Bhoga or consumption are stopped. There can be no liberation unless the process of Bhoga is complete. Thus the suspension of thoughts bars the door of liberation for ever.

For our spiritual purpose it is essential to make ourselves free from thoughts as far as possible, but it can never be effected by means of supression but only by throwing out the poison from the mind, which would stop the creation of thoughts. The rising of buried thoughts helps to exhaust the store by effecting their Bhoga. Thus in due course the Abhyasi becomes free from them and attains a harmonious state. His mind-lake is thus free from the ripples and perfect calmness begins to prevail within him.

The proper course would, therefore, be to pay no heed to thoughts arising in the mind during meditation and to remain unmindful of them, treating as uninvited guests. In this way their intensity will be lost and they will cease to be a source of disturbance.

● ● ●

"Thoughts on Worship".

(Shri Bangovinda Parampanthi)

Spiritual aspirants sometimes ask which is the best way of worship. To answer this question, one faces many difficulties because we generalise the meaning of worship. Basic fact of worship is to pray to God and thereby to get His blessings. This is perhaps one-sided meaning of the word 'Worship', but to the worshipper peace of mind is the real factor which leads him to worship. In a time of stress and strain and also when anxieties and worries oppress the mind, a silent prayer or worship brings about a miraculous change in the mind as well as steadiness and equilibrium are restored. If we leave aside all other factors that are associated with worship this single factor of mental peace stands out as the guiding import of worship.

No one can perhaps answer precisely which is the best way of worship. Humanity though one and the same in spirit differs essentially in outward expression, I mean it differs in its modes of lives and as its moods vary, no hard & fast rule for worship can be prescribed. Let us first see why we worship and pray. Why inspite of astounding victories of science over nature and his own-self man feels compelled to worship and pray ? The world that our hoary ancestors lived in was a far-

cry from the world we are now living in. We are not as helpless as they were. Unlike them, we are not frightened by storm, wind, flood or pestilence that visit the world alternately, but can face them and are confident that we can bring them under our control. The fear of the unknown and all sorts of tragic visitations made mankind look beyond the phenomenal world. They raised their hands up, believing there sat some one with all his splendour and sought help from Him. But we of the present era are not so naive as they were; we would rather explore all the powers at our command to bring the natural calamities under our control. Nevertheless, we feel helpless at certain moments when we realise human power is too weak to withstand those onrushes. Prayer or Worship comes in to fill up the gap. We shall not enter into the discussion on the above line as it will lead us to endless arguments and reasonings which may not be very helpful for our present purpose. It is our firm belief that there is One Supreme Being. He lives everywhere and at every moment. As He has been described:- "With hand, feet everywhere, with eyes, heads and mouths everywhere and with ears everywhere in the universe that alone exists enveloping all" (Gita-13/13). Yet again "Grasping without hand, hasting without feet it sees without eyes, it hears without ears, it knows what is to be known but no one knows it. They call it the first the great, the full" (Svet. III/19): Rishis of yore have described Him whom human eyes cannot easily comprehend yet He lives within all of us. There is

an undeniable proof of His existence as many devoted souls realised Him, saw Him with their every eyes and such realisation was possible through prayer and worship. Thus the act of worship is out to show our Supreme reverance or veneration to that Supreme Being, thereby realising Him in all His glory as the fountainhead of all energy, all knowledge, existence and bliss.

As we have said before the definition and meaning of worship cannot be generalised. Because with the varying human temperament it is bound to take different expressions and colours. Every man is born with distinctive basic quality; one is endowed with Sattvic attributes, another with Rajasik attributes, & a third one with Tamasik ones. Our Philosophers defined these qualities on broad basis, and it is said no human being, not even gods can get away from their grasp. So when we put the question 'which is the best method of worship', we must keep in our view this basic point which Hindu thinkers outlined long ago. In Bhagabata Bk-XI, whole 27th chapter has been devoted to the method or mode of worship. The Lord says there that there are three ways of worshipping Him. Viz, Vaidic, Tantric and blending of the two". One may worship Me by any one of these methods that appeals to him.—

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्रो इति मे त्रिविधो मखः ।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्थयेत् ॥

Commentators commenting on this verse are of opinion that by ईप्सितेनैव the Lord meant according to one's own faith (स्वश्रद्धानुसारेण) one may worship Him, thus giving free choice of adopting one's own method. Our religion and culture stood the blight of time because of the emphasis laid on man's inherent nature. It does not want to compress every thing in one fabric but gives a wide freedom of thought and worship. If "free-will" means welding one's own approaches, it is Hinduism which gives full emphasis on it. So says Gita,-"The faith of every individual, O Bharata is in accordance with his nature. Man is of the nature of his faith what faith is that verily he is" (17/3). Man according to his own faith and nature worships differently. One who is of Sattvic type worships the Perfect One; men of Rajasik (activistic-nature) and Tamasik (inert or lethargic) nature worship gods of different types as their knowledge has not ripened. They worship or pray only for their own satisfaction & not for any higher attainment as man is by nature prone towards the easy ways. That is why the Lord says,:-"Those who long for success in this world worship gods, (various forms of the one Godhead) for in the human world success is quickly attained by action". (Gita-IV/12).

Judging from this point of view we can now easily understand worship differs from man to man as some give stress on ceremonial aspect arranged in grand and royal scale so that people may applaud the performer as a great devotee of god,

while there are others who feel silent prayer is the best way of worship. Although we cannot decry the value of the ceremonial side of worship, at the same time we cannot approve of its excess and purfunctory nature and publicity with which it is being done. Man's highest aspiration is to realise God and to see Him face to face. If he makes much of outward worship then the ultimate objective of God-realisation recedes to the background, thus baffling his aim. It is Mahanirbantantra which warns us by recounting that of all the worships God-realisation (ब्रह्मसद्भाव) is best while Dhyana is secondary and chanting of Hymns etc. are of lower type while ceremonial worship is the lowest of all.

उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यम: ।
स्तुतिर्जपोऽधमोभाव वहि:पूजाधमाधमा: ॥ ४।२१

This sloka should not be taken as total denial of outward aspect of worship but it gives impetus to the higher mode of worship by laying emphasis on God-realisation. So long our mind is not purified and fully saturated with knowledge, this ceremonial worship is very essential. Dr. Radhakrishnan says on this point,–"We must realise that human individuals are not to be regarded as all in the same stage of development; they are not to be regimented into any kind of camp. It is our ideal our highest ambition to live a life of God. If we are unable to do it we must try to concentrate, meditate and contemplate. If we are still unable to do it we have to worship an image, if that is

also impossible for some of us "Then Homoyatra" (performance of oblation) (Vedantakeshari Vol-XI-P-414). In worship Sraddha (Reverence & Faith) and Ekagranistha (one-pointed devotion to Lord) are most essential and are to be stressed. While it is true that all gods are emanations of the One Supreme Being, it is not commendable to divide our mind to so many aspects but man by nature is incapable to fix his mind on one thing. If we cannot train our mind in this way we can hardly expect to achieve any thing spiritually. In the highest domain of metaphysical knowledge there is but one God. But for the convenience of one's worship one contemplates Him in various ways and forms. Every man cannot fix his mind on "Zero" & when he at all fixes on it "Zero" also takes a form, which appears to be something like a round or spherical object and he atonce thinks that God is such. But through the process of Sadhana he comes to such a stage when all differences merge into one & one only. That is why Dhyana is likened in our scriptures to an uninterrupted flow of oil when it is being poured into a pot.

In our everyday existence we cannot think of such highest thing because some mortal limitation bars the path to Supreme realisation. It is sometimes heard that daily worship is not necessary as these things do not help one directly towards God-realisation. It may not be necessary for the Realised Soul, but for the common people who live in the 'hub-bub' of the world it is essential. He should

devote sometime of the day in remembrance of God, thereby gaining peace of mind which is so needed for his careworn life. Sadanandayati in his "Vedanta-Sara" says:-'नित्यानि-अकरणे प्रत्यवायसाधनानि सन्ध्या वन्दनादीनि' Daily rites are worship such as "Sandhy-avandan" non-performance of which causes harm. It has been explained as under:-"The performance of daily obligatory rites leads to the acquisition of virtue, this leads to the destruction of sin which in turn results in the purification of the mind. This purification of mind leads to comprehension of the true nature of Samsara or relative existence; from this results 'Vairagyam" (renunciation) which arouses a desire for liberation" (Nikhilananda : Vedanta-Sara, P-8).

Modern man will perhaps shrink at the suggestion of sin, as he feels there is no such thing as "Sin". Sin is not a relative term but certain action produces evil effects which we term "Sin". I would like to replace "Sin" by unstability of mind. When the mind is irritated and is unstable, it produces thoughts that are not conducive to both mental & physical health. Modern researches have shown that mind is not only a subjective entity but an objective too. Physical uneasiness & ailment as well as weather play vital part in determining the mind-action. So to take the mind away from the day's drudgery for sometime through worship makes it light and joyous. Our mind is so fertile, so restive, that it does not want to concentrate itself on one thing. In response to a query

by Arjuna Srikrishna says:-"Without doubt Arjuna, the mind is difficult to curb and is restless but it can be controlled by constant practice and non-attachment (Gita-6-34). Now the question is how to control it. We talk about the stability and tranquility of mind but never try to bring it under control. Bhartrihari has beautifully described the state of mind in following sloka:-"Being thus agitated O mind, thou now descendest into the nether regions, now soarest up beyond the skies & wanderest all around the four quarters, why even by mistake does not once concentrate on that Brahma of the nature of self and bereft of imperfection whereby you may attain Supreme bliss".

पातालमाविशसि यासि नभो विलङ्घय,
दिङ्मण्डलं भ्रमति मानसचापलेन
भ्रान्त्वापि जातु विमलं कथमात्मनीनं
न ब्रह्म संस्मरसि निर्वृत्तमेषि येन ॥

Therefore the worship as Nitya-Karma or daily rites cannot be ignored or overlooked. Thus the mind is the main factor in the matter of worship too. We must keep this factor in view, so that we may judge nature and mode of worship in their correct perspective. With different taste and temperament modes of worship are bound to vary and whatever may be the difference it leads the worshipper to one goal of Supreme realisation. The free choice of worshipper to adopt any mode or approach he likes is allowed in all of our scriptures more specially in Bhagavad-Gita. We worship God

in two aspects-Saguna and Nirguna, with form and without form. Throughout his conversation with his disciple Srikrishna lays emphasis on absolute realiance on Him, no other Worship or Puja has any value if he cannot make Him his own. But Arjuna felt that those who worship God as formless –are they inferior to those who worship with form ?" "No", says the Lord "but greater is the difficulty where mind is set on the unmanifested, for the goal of unmanifested is very arduous for the embodied being to attain". (XII-5). Embodied beings as we have seen cannot fix-up their mind on a thing—that is why the symbol for meditation has beed envisaged. Though our final aim is to attain the goal of unmanifested we have to go through our Sadhana of manifested form. In the words of a Christian saint:–"By the visible aspects our thought must be drawn up in a spiritual flight and rise to the invisible majesty of God".

As in Advaita, Dvaita is included, so in Nirguna the qualifying thing 'Guna' is also present. We have, therefore, in Gita the different ways of worshipping, thus suiting the various tastes of devotees. Says the Lord:–"But the great Souls possessing the divine nature, knowing me as immutable and as the source of being, worship me with single-minded devotion. Ever singing my glory and striving with steadfast vows bowing down to me in devotion they perpetually worship Me; others again by performing wisdom-sacrifice worship me, the all- facing as one, as seperate or in many forms". (IX, 13-15).

The outward form of worship is required to create a congenial spiritual atmosphere. Kirtan & community prayer though do not produce any permanent spiritual fervour, yet it helps to create a religious spirit in those who participate in it. It is futile to expect such permanent result from anybody and everybody but we can certainly expect some good results out of it. Moreover, worship and prayer have a perpetual healthy binding on the moral life of mankind. In whichever way we may worship we must cultivate Shraddha (intense faith) without which every thing goes in vain.

To Keep the place where we sit to worship or pray tidy and clean is also an act of worship inorder to evoke the spirit of purity. Even the Upanisad attaches great importance to this aspect when it says:-"Let Yoga be practised within a cave protected from the high wind or in a place which is level, pure and free from pebbles, gravel and fire, undisturbed by noise of water or of market-booths and which is delightful to the mind and not offensive to the eye" (Svetasvatar-Up, 11-10). We way overlook this aspect as an un-necessary part but it helps the worshipper to concentrate his mind for worship in serenity of soul.

After detailing the method of worship in the Srimad Bhagavata-canto-XI alluded to before from its outward arrangement the Lord has warned us againt perfunctoriness and enjoined that the importance of ceremonials remains so long as we do not come to look-upon all beings as manifestation of the Lord himself.

यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते ।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनः कायवृत्तिभिः ॥ XI.29.17.

Thus the ultimate aim of worship (Puja) is to identify ones self with Him, getting liberation from the trammels of worldly sufferings or we may put it in the words of Christ "Be ye therefore perfect even as your father which is in heaven is perfect".❀

[❀Under 'Sahaj Marga' system of Sadhana all forms of worship are not treated to be on an equal footing. Aspirants in the field of spirituality may and do choose various paths according to their aims, inclinations and capacities. But there remains A best and THE most efficatious way to the goal of Realization, which has to be adopted ultimately by every sincere seeker after the Ultimate. Such a conviction is not in conflict with our ancient scriptures. In Gita itself Lord Krishna has unequivocally declared :

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

"Worshippers of gods go to gods; to ancestors go ancestor-worshippers; worshippers of material & supernatural beings attain to them; even so those who worship Me come to Me" (Gita IX,25).

—Editor]

● ● ●

Men With a Mission.

(Shri Suresh Chandra)

'We are men with a mission'—isn't that a sufficient introduction of us to the world where men grope in the darkness and fly at each other's throat in ignorance. We know the secret of life—Why to live, how to live ? And above all in the pitch darkness haunted by the Devil—there walks the Living Beam of Light–Our Master.

It is a diseased world to-day. Its inhabitants are born between greed and lust, on one hand, to which they have surrendered themselves and on the other hand, the inner being the soul which always bids them to live contented and peaceful. Contentment and ambition, simplicity and luxury love and craftiness, war and peace are feeding upon individual personality like vultures. A man who rolls in wealth does not roll in happiness. His face does not beam with joy. Care and worry sap his vitality. Science has brought innumerable devices for the comfort of body but alas ! it has nothing to comfort the ailing soul. How can a man be happy when the malady has affected his inner being. World is weary of this soul–sickness Everything seems broken, all visions shattered–

'All friendship mere feigning
All love mere folly'

A cynicism has brought 'leaden eyed despair' to this world where 'but to think is to be full of sorrow'. Consequently a gloom has settled upon this globe and humanity is suffering from a peculiar world - weariness.

Perhaps I am not very precise to call the modern man having divided aims. He has no aim whatsoever. An aim, a goal or a destination requires a lot of forethought and weighing its pros and cons according to some balance, some principles. It is not a sufficient cause to grieve that man has lost all balances, destroyed all principles and has put a sign of interrogation after every value–social or moral ? It might be due to reaction against a dogmatic past or a result of over–active imagination in man pricking him for the newness or the impact of science which believes nothing unless it is tested in a laboratory. Whatever the season be religion has been relegated to a corner and God is only a topic talked about by the old and the metaphysicians Modern age has fed the body and starved the soul. The wholeness of human life cannot be effected till a purpose is evolved out of it. Let us know that we are born not by any accident but for something and we live not because we are born but because we have to accomplish it in our life time. Then all our energies would focus at a point, a light would be born in the gloom and our destination and the road to it would come to our view. Life would no more be meaningless like 'a tale told by an idiot, 'leaden eyed despair' will dissolve into sparkling eyes and we would feel blessed to live. Life would be a boon not a bane.

We are men with a mission. We have, by grace of our Master, known the real purpose of life & are striving for happiness. We know the child is never happy till he is away from his mother, and so man is never happy till he is away from the mother who begot the elements, who is the be-all and end-all of every thing, the Alpha and Omega of entire creation. You may call it by any name-God or any other. But it is certain that unless the streamlet of life merges into that Ocean ofEternity we are not free from bondages. None can achieve it without the help of the Master. Beware only he can be Master or guru who has attained the highest state and who has 'drunk deep at the perennial spring' of wisdom and eternity. Novices or sham-gurus do more injury than help in our march on the path of Bliss. Try him with strictmost judgement and when satisfied, submit unto him heart and soul, suffer from no complexes in judging him in whose hands you are going to entrust your most precious thing-your life. If he, who is ready to be your guru, resents being examined, he disqualifies himself at the outset.

There is a practical difficulty and most of the people are misled due to it. How a student can fathom the knowledge of his teacher ? A student has little knowledge, a balance too small to weigh a great thing. Generally, therefore, he is satisfied by any teacher who is clever and knows the demands of the students. That is why there is a host of gurus for the ignorant masses-- the blind leading the blind. It is a very common mistake. How an ordinary man who starts learning spiritualism can judge the reality of one who claims to be a great spiritualist ?

For it we can depend upon none but God. We can get a real master only when our heart burns within us day and night for a guide to lead out of the 'encircling gloom'. Then we pray God to give us one. The stronger the longing the sooner our guide will come to us. Such God-sent guru will seek you out at any corner of the world.Meating of guru is half journey done. The rest remains your submission and cooperation.

● ● ●

Experiences of an Abhyasi.

[Under this permanent column, the personal experiences of the Abhyasis of our system of Sadhana are published. The names of the Abhyasis, however, are not published with a view to exercising a check over the natural tendency to indulging in self-praise, while giving personal experiences. The Abhyasis are requested to try to emphasise only such matters & events, while writing for this column, as may be helpful in throwing light on the special characteristics of our system of Sadhana.---Editor]

Having been born and brought up in a religious Brahmin family I was fond of ritualistic practices like offering water and flowers to deity, Gita and Ramayan Path in the early morning hours and so on from the early childhood. This usual practice of common forms of worship brought about momentary feelings of piety and peace, but the rest of the daily routine remained full of usual anxieties, heaviness of spirit and unheeded pricks of conscience.

One day a lawyer friend of mine told me about Shri Babuji and the Sahaj Marga system of Sadhana. He asked me to take up the form of worship prescribed under this system for some time and continue if I might find some visible improvements. In a sceptical mood I decided to follow his advice by way of an experiment.

I went to Shri Babuji for the first time when he once happened to come to my town. The first impression of his outer appearance did not make any remarkable impression but his very first sitting brought about a slight feeling of a peculiar lightness and calmness. This created a sense of curiosity and I decided to continue the form of worship.

In the beginning the meditation time in the morning and evening remained very short, but as time proceeded the feeling of lightness and calmness started spreading to the entire daily routine instead of remaining confined to the time of meditation & immediately thereafter. Sometimes there came waves of mild dissatisfaction but the basic feeling of bliss went on growing so overpowering that at last it became impossible to revert to earlier forms of worship.

I had some remarkable experiences also with the Master. Once I had been to Shahjahanpur and conversation on Vairagya was going on. Shri Babuji asked me to notice the real condition of Vairagya in myself, and to my astonishment I felt a peculiar kind of disinterestedness.

To be brief I am convinced that this form of Sadhana gradually but surely brings about a change in every fibre of the system of an Abhyasi and if one has patience and sincerity he is sure to notice it in due course of time.

—An Abhyasi

● ● ●

To The Awakened India.

Once more awake !

For sleep it was, not death, to bring thee life
Anew, and rest to lotus-eyes, for visions
Daring yet. The world in need awaits, O Truth !
No death for thee !

Resume thy march,

With gentle feet that would not break the
Peaceful rest, even of the road-side dust
That lies so low. Yet strong and steady,
Blissful, bold and free. Awakener, ever
Forward ! Speak thy stirring words.

And tell the world—

Awake, arise, and dream no more !
This is the land of dreams, where Karma
Weaves unthreaded garlands with our thoughts,
Of flowers sweet or noxious,–and none
Has root or stem, being born in naught, which
The softest breath of Truth drives back to
Primal nothingness. Be bold, and face
The Truth ! Be one with it ! Let visions cease,
Or, if you cannot, dream but truer dreams,
Which are Eternal Love and Service Free.

—*Swami Vivekananda*

'सहज-मार्ग' के नियम

—:❀❀❀:—

१—'सहज मार्ग' प्रति वर्ष चारबार चैत्र, आषाढ़, अश्विन, पौष अथवा मार्च, जून, सितम्बर और दिसम्बर में प्रकाशित होता है।

२—'सहज मार्ग' का मुख्य उद्देश्य आध्यात्मिक साधना पद्धति से सम्बन्धित गूढ़ रहस्यों का यथा सम्भव उपयुक्त प्रकाशन है।

३—'सहज मार्ग' में प्रकाशनार्थ आने वाले लेखों, कविताओं, कहानियों आदि का विषय मुख्यत: आध्यात्मिक एवं साँस्कृतिक होना चाहिए।

४—लेखों, कहानियों, कविताओं आदि के घटाने बढ़ाने, छापने या न छापने का पूर्ण अधिकार सम्पादक को रहेगा। लेखों आदि में प्रकाशित मत का उत्तरदायित्व सम्पादक पर नहीं, किन्तु स्वय लेखक पर होगा।

५—प्रकाशनार्थ आने वाले लेख आदि देवनागरी अथवा रोमन लिपि में कागज के एक ओर शुद्ध एवं स्पष्ट रूप से लिखे या टाइप किये हुए होने चाहिए।

६—'सहज मार्ग' में प्रकाशनार्थ लेख इत्यादि निम्नांकित पते पर भेजे जाने चाहिए:—

सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव
गुप्ता भवन महराजनगर,
लखीमपुर–खीरी (उ० प्र०)

७—'सहज मार्ग' में श्री रामचन्द्र मिशन के अध्यक्ष की स्वीकृति प्राप्त विज्ञापन प्रकाशित हो सकते हैं। विज्ञापन की दर निम्नलिखित हैं:–

कवर का चौथा पृष्ठ पूरा ३०)	आधा १५)
अन्य साधारण पृष्ठ पूरा २०)	आधा १०)
	चौथाई ६)

८—'सहज मार्ग' का वार्षिक मूल्य ३) है, और एक प्रति का १)

श्री र[illegible] प्रकाशित साहित्य

पुस्तक	लेखक	मूल्य
1-Efficacy of Rajyoga by Shri RamchandraJi		(रू० नयेपैसे)
	Shahjahanpur (U. P.)	*2-50*
2-Reality at Dawn	*Do*	*1-50*
३-सत्योदयम् (तमिल)	अनुवादक श्री अ० बालसुब्रह्मण्यम्	
(Reality at Dawn in Tamil translaion by A. Balasubramaniam)		1-50
४-सहजमार्ग के दस उसूलों की शरह (उर्दू)	श्री रामचन्द्र जी, शाहजहांपुर (उ० प्र०)	१-५०
५-अनन्त की ओर	,, ,,	१-००
६-गुरु सन्देश	,, ,,	०-२५
७-सहज समाधि	कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी लखीमपुर–खीरी (उ० प्र०)	०-२५
८-'सहज मार्ग'-पत्रिका की फ़ाइल (द्वितीय वर्ष)	अजिल्द	३-००
	सजिल्द	३-५०

मिलने का पता—सेक्रेटरी, श्री रामचन्द्र मिशन,
शाहजहाँपुर उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

Premraj Press, Naibasti, Hospital Road, Lakhimpur.